पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : 73

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

श्रीसोमप्रभाचार्य विरचित

श्रृंगारवैराग्यतरंगिणी

अनुवादक
मुनि अशोक

सम्पादक
डॉ० अशोक कुमार सिंह

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी - ५

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला सं० ७३

सोमप्रभाचार्य विरचित

शृंगारवैराग्यतरङ्गिणी

नन्दलाभकृत टीकासह

भूमिका
प्रो० सागरमल जैन

सम्पादक
डॉ अशोक कुमार सिंह

अनुवादक
पं. अशोक मुनि

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-५
१९९५

प्रकाशक—
पार्श्वनाथ विद्यापीठ
आई. टी. आई. रोड
पो० आ० : बी० एच० यू०
वाराणसी, २२१००५
दूरभाष- ३११४६२

प्रथम संस्करण- १९९५

मूल्य— रु० ५०.००

मुद्रक :
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहर नगर
वाराणसी- २२१०१०

प्रकाशकीय

निवृत्ति प्रधान जैन आचार्यों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने श्रृंगारिक वर्णनों को भी वैराग्य की दिशा में मोड़ दिया है। इस प्रकार की कृतियों में वृहद्गच्छ के सोमप्रभाचार्य की श्रृंगारवैराग्यतरङ्गिणी एक प्राचीन और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। प्रस्तुत कृति पर संस्कृत भाषा में तो टीकाएँ उपलब्ध थीं किन्तु हिन्दी में उनका कोई अनुवाद उपलब्ध नहीं होने के कारण जन-साधारण उनकी इस कृति का लाभ नहीं उठा पाते थे।

जैन विद्या के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुवाद-योजना के अन्तर्गत हम इस कृति को हिन्दी में अनुवादित करवाकर प्रकाशित कर रहे हैं। इस कृति का अनुवाद युवा जैन श्रमण श्री अशोक मुनि जी ने किया है। अशोक मुनि जी संस्कृत व्याकरण के अध्ययन के निमित्त लगभग ३ वर्षों तक पार्श्वनाथ विद्यापीठ में विराजित रहे और इसी क्रम में उन्होंने डॉ० श्री ब्रह्मानन्द चतुर्वेदी के मार्ग दर्शन में इस लघु किन्तु महत्त्वपूर्ण कृति का हिन्दी अनुवाद किया था। इस अनुवाद के संशोधन और सम्पादन में विद्यापीठ के शोधाधिकारी डॉ० अशोक कुमार सिंह का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

यह कृति पर्याप्त समय से छपकर तैयार थी किन्तु भूमिका के अभाव में उसका प्रकाशन सम्भव नहीं हो पा रहा था। विद्यापीठ के निदेशक प्रो० सागरमल जैन ने इसकी भूमिका लिखकर ग्रन्थ को पूर्णता प्रदान की। इस सहयोग के लिए हम इन सभी विद्वानों के आभारी हैं। ग्रन्थ का मुद्रण वर्द्धमान मुद्रणालय, भेलूपुर ने किया है अतः उसके प्रति भी आभार व्यक्त करते हैं। अन्त में हम विद्वानों व पाठकों से यह अपेक्षा रखते हैं कि वे कृति का रसास्वादन कर अपने अभिमतों से हमें अवगत करायें।

वैशाख शुक्ला तृतीया
संवत् २०५२

भवदीय
भूपेन्द्र नाथ जैन
मन्त्री
पार्श्वनाथ विद्यापीठ

भूमिका

साहित्य के क्षेत्र में रस का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । किसी भी साहित्यिक ग्रन्थ की मूल्यवत्ता उसकी रसाभिव्यक्ति पर ही निर्भर करती है। वैसे तो साहित्य के क्षेत्र में नौ रसों की चर्चा उपलब्ध होती है, किन्तु उनमें प्रधानता शृंगार रस को ही दी जाती है। जैन आगमों में अनुयोग-द्वार सूत्र में भी इन्हीं नौ रसों की चर्चा मिलती है, किन्तु शृंगार को उसमें तिरस्कार की दृष्टि से ही देखा गया है और प्रधानता शान्त रस (वैराग्य) को ही दी गई है । फिर भी न केवल प्रवृत्तिमार्गी परम्परा के साहित्य में अपितु निवृत्तिमार्गी परम्पराओं के साहित्य में भी किसी-न-किसी रूप में शृंगार रस की अभिव्यक्ति हुई है । यह तो स्पष्ट है कि शृंगार रस, जन सामान्य को अपनी ओर आकर्षित करता है और शृंगार रस प्रधान कृति पाठक को विशिष्ट आनन्द प्रदान करती है। इसलिए निवृत्तिमार्गी और प्रवृत्तिमार्गी-दोनों ही परम्पराओं की साहित्यिक कृतियों में व्यक्त और अव्यक्त रूप में शृंगार रस की अभिव्यक्ति हुई है।

जैनधर्म निवृत्तिमूलक, वैराग्य प्रधान श्रमण संस्कृति का धर्म है। अतः उसमें सदैव ही शान्त रस या वैराग्यभाव को प्रधानता मिली है। किन्तु यह भी सत्य है कि शृंगार और वैराग्य मानवीय अस्तित्व के दो परस्पर विरोधी छोर हैं। एक व्यक्ति को भोग की दिशा में प्रेरित करता है तो दूसरा उसे त्याग की दिशा में, किन्तु मानव को मानव रहने के लिए भोग और त्याग दोनों अपेक्षित हैं । दूसरे यह भी सत्य है कि शृंगारपरक रचनाओं में जनसाधारण की जो आकर्षण क्षमता होती है, वह वैराग्यपरक रचनाओं में नहीं होती । अतः निवृत्ति प्रधान जैन संत कवियों को भी पाठक को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए अपने काव्यों में शृंगार रस की सृजना करनी पड़ी। दूसरे, शृंगार जीवन का यथार्थ है, जबकि वैराग्य एक ऐसा आदर्श है जिसे आत्मसात करने का उपदेश भी यथार्थ के धरातल पर खड़े हुए व्यक्ति को ही देना है। व्यक्ति की समस्या यह है कि वह न तो यथार्थ की पूर्णतः अवहेलना कर सकता है और न वह आदर्श को पूरी तरह नकार सकता है । जीवन की पूर्णता यथार्थ से आदर्श की ओर अभिगमन करने में ही है। यही कारण रहा है कि जैनाचार्यों ने व्यक्ति को वैराग्य की दिशा में मोड़ने के लिए अपनी कृतियों में शृंगारिक वर्णनों को स्थान दिया है, फिर भी उनकी कृतियों

का प्रमुख प्रयोजन पाठक को भोगों की ओर अभिमुख न करके उनसे विमुख करना है। वे अपने पाठक को श्रृंगार के माध्यम से अपनी ओर आर्कषित करके उसे वैराग्य की दिशा में मोड़ देते हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र में नौ रसों की चर्चा के प्रसंग में श्रृंगार रस के विषय में कहा गया है "रति के संयोग की अभिलाषा का जनक श्रृंगार रस होता है।" वहाँ इस रस को त्याज्य और मोक्षरूपी द्वार की अर्गला ही बताया गया। यह सत्य है कि जैन कवियों ने अपनी रचनओं में श्रृंगार को स्थान दिया है किन्तु इन सबके पीछे उनका मुख्य उद्देश्य रचना को सरस बनाकर पाठक को वैराग्य की दिशा में अभिमुख करना ही है।

जैन साहित्य मुख्यतः प्राकृत भाषा में रचा गया है। प्राकृत भाषा सुकुमार तो है ही, उसमें अन्योक्ति की जैसी सामर्थ्य है, वैसी सामर्थ्य संस्कृत या अन्य किसी भाषा में नहीं है। गाहासतसई, वज्जालग्गं आदि प्राकृत के ऐसे ग्रन्थ हैं जो श्रृंगाररस की अभिव्यक्ति की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। किन्तु इनमें भी वैराग्य की उपेक्षा नहीं है। जन साधारण की अभिरुचि श्रृंगार की दिशा में होने से जैन कवियों ने तीर्थंकरों और महापुरुषों के चरित्रों में श्रृंगारिक वर्णन तो किये किन्तु प्रयत्न यही रहा कि उनके माध्यम से पाठक को आर्कषित कर वैराग्य की दिशा में मोड़ दिया जाय। जैन साहित्य में 'अजीतनाथस्तोत्र' एक महत्व-पूर्ण रचना है। प्राकृत भाषा में रचित इस रचना में अजीतनाथ और शान्तिनाथ नामक तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। इसमें श्रृंगार रस की अभिव्यक्ति भरपूर हुई है, फिर भी इसका उद्देश्य तो व्यक्ति को वैराग्य की ओर अभिमुख करना ही है। जैन साहित्यकारों भी यह विशेषता रही है कि उन्होंने अपने श्रृंगार के विवेचन में न तो कहीं मर्यादाओं का उल्लेघन किया है और न उसे भोगोन्मुख बनाया है। जैन कवियों ने श्रृंगार रस प्रधान अनेक स्वतन्त्र रचनाएँ की हैं और अनेक श्रृंगार रस प्रधान ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं। इनका विस्तृत विवरण श्रृंगाररस गाथाकोश की भूमिका में श्री भंवरलाल जी नाहटा ने दिया है जिसकी सूची इस प्रकार है—

१.	श्रृंगारधनद-धनदत्रिशती	धनदराज, माण्डवगढ़, वि. सं. १४९०
२.	अकबर शाही श्रृंगार दर्पण	पद्मसुन्दर
३.	कामोद्दीपन ज्ञान सार	प्रतापसिंह वर्णन, जयपुर वि. सं. १८५६
४.	कुमारसंभव टोका	चरित्रवर्द्धन, वि. सं. १४९२
५.	कुमारसंभव टोका	जिनभद्रसूरि

६. कुमारसंभव टीका	जिनसमुद्रसूरि
७. कुमारसंभव टीका	उपाध्याय लक्ष्मीवल्लभ
८. कुमारसंभव टीका	उपाध्याय समयसुन्दर
९. कुमारसंभव टीका	क्षेमहंस १६वीं शती, उल्लेख स्वकृत रघुवंशी टीका में है।
१० कुमारसंभव अवचूरि	अंचलगच्छीय श्रावक वाडवने १४ ग्रन्थों पर लिखी थी, जिसमें केवल वृत्तिरत्नाकर अवचूरि महो. विनयसागर के संग्रह में है।
११. कृष्णरुक्मिणी वेलि भाषाटीका	श्रीसार
१२. कृष्णरुक्मिणी वेलि भाषाटीका	कुशलधीर
१३. कृष्णरुक्मिणी वेलि भाषाटीका	जयकीर्ति
१४. कृष्णरुक्मिणी वेलि भाषाटीका	लक्ष्मीवल्लभ
१५. कृष्णरुक्मिणी वेलि भाषाटीका	दानधर्म
१६. कृष्णरुक्मिणी वेलि भाषाटीका	शिवनिधान
१७. कृष्णरुक्मिणी वेलि संस्कृतटीका	सारंगकवि
१८. भर्तृहरि शृंगारशतक संस्कृतटीका	अभयकुशल
१९. भर्तृहरि शृंगारशतक संस्कृतटीका	रामविजय
२०. भर्तृहरि शृंगारशतक संस्कृतटीका	लक्ष्मीवल्लभ
२१. भर्तृहरि "आणन्दभूषण प्रमोद" संस्कृतटीका	नयनसिंह, वि. सं. १७८६ बीकानेर राजवंशके आनन्दसिंह केलिए।
२२. भर्तृहरि "आणन्दभूषण प्रमोद" संस्कृतटीका	धनसार, उपकेशगच्छीय देवगुप्तसूरि के शिष्य एवं मंत्री राजलदे के पुत्र, वि.सं. १५२७में उपाध्याय थे। इनकी १. उएसारास, वि. सं. १५३२, २. वज्जालग्गं टीका, वि. सं. १५५३ और ३. भर्तृहरिशतक उपलब्ध है।
२३. भर्तृहरि शतकत्रय हिन्दी पद्यानुवाद	विनयलाभ
२४. शृंगारमण्डन (शृंगाररस के १०८ श्लोक)	मन्त्री मण्डन
२५. शृंगाररसमाला (गाथा ४१)	सूरचन्द्र, वि.सं. १६५९ अक्षय तृतीया नागोर
२६. शृंगारवैराग्यतरंगिणी	सोमप्रभाचार्य

२७.	शृंगारशतक	जिनवल्लभसूरि
२८.	शृंगारादि संग्रह सोदाहरण	अज्ञात
२९.	अनूपरसाल	उदयचन्द्र, वि. सं. १७२८
३०.	भावशतक	समयसुन्दर, वि. सं. १६४१
३१.	माधवानल कामकंदला चौपाई	कुशल लाभ, वि. सं. १६१६
३२.	ढोलामारु चौपई	कुशल लाभ, वि. सं. १६१७
३३.	कोक चौपाई	नबुंदाचार्य
३४.	वज्जालग्गं	जयवल्लभ
३५.	शशिकला पंचाशिका	ज्ञानाचार्य
३७.	कोकशास्त्र	ज्ञानसोम
३८.	शृंगारगाथा विज्जाहला	श्रुतसागर, वि. सं. १५०३
३९.	शृंगारिक पद्य	अज्ञात
४०.	शृंगारमंजरी संग्रह अजितसेनदेव	जैनसिद्धान्त भवन, आरा
४१.	शृंगारार्णविचन्द्रिका	विजयवर्णी (विजयकीर्ति-शिष्य) जैनसिद्धान्त भवन, आरा
४२.	मदनकामरत्न	पूज्यपाद पंचबाणरस. जैनसिद्धान्त भवन, आरा
४३.	संयोगद्वात्रिंशिका	खरतरगच्छीय मानकवि (सुमतिमेरु के शिष्य), वि. सं. १७७३
४४.	रसिकप्रिया वार्तिक	कुशलधीर, वि. सं. १७२४
४५.	ढोलामारु वार्त्ता दोहा	जयानन्द महो॰विनयसागर कोटासं॰
४६.	रसाउलो (प्राकृत)	पूर्णिमापक्षे, मुनिचन्द्रसूरि, वि. सं. १५७७ के आस-पास हालाभाई भण्डार, पाटण
४७.	सुदयवच्छ सावलिंगा चौपाई	खरतरगच्छीय कीर्तिवर्द्धन
४८.	चतुरप्रिया (नायकनायिका भेद २ उल्लास पद्य क्रमशः ४८, ८६,	केशवमुनि कीर्तिवर्द्धन राजस्थान जैन साहित्य
४९.	राजमतीविप्रलंभ स्वोपज्ञ टीका	पं. आशाधर, अप्राप्त
५०.	रसिकप्रिया टीका	जावालिपुर, खरतर, समय मणिक्य (समरथ), वि. सं. १७४६
५१.	सुदयवच्छवीर चरित्र संस्कृत	रत्नशेखर के शिष्य हर्षवर्धन
५२.	सदस्यवच्छ वीरचरित्र गुजराती	अज्ञातकृत, वि. सं. १६५२ पूर्व कविओ, भाग ३

५३. सुदेवच्छ सावलिंगा चौपाई	केशवविजय (विजयदेवसूरि के शिष्य), वि. सं. १७६९ जालोर
५४. मनोहर-माधव-विलास अथवा माधवानल	पूर्वपद्य १९९, अज्ञात कवि, वि.सं. १६८९
५५. स्वीगुणसवैया हिन्दी	जटमल नाहर
५६. स्त्री गजल हिन्दी	जटमल नाहर
५७. से ६०. रसनिवास, कोकपद्य, नखशिख और शृंगार कवित्तादि ३७ रचनाएँ विनयसागर के संग्रह में हैं।	रचयिता उदयचन्द भण्डारी (जोधपुर नरेश महो. मानसिंह के मन्त्री उत्तमचन्द के भ्राता थे जिनका "अलंकाराशय" नामक ग्रन्थ उच्च कोटि का है) राजस्थान का जैन साहित्य, पृ. २८२
६१. मदनशतक—	अंचलदामो (दयासागर) वाचक उदयसागर शिष्य, वि. सं. १६६९, जालोर। इस मदन नरेन्द्र चौपई में दोहे १०१ हैं। इसकी ८ चित्रमय प्रतियां हैं। चौपई के दोहों में वृद्धि होकर १३२ दोहे हो गए। गद्य वार्ता भी समाविष्ट है। आगरा विश्वविद्यालय के भारतीय साहित्य, जुलाई-अक्टूबर, सन् १९६२ में मदनशतक प्रकाशित हुआ। इसमें वह गुप्त लेख जो रति सुन्दरी ने प्रियतम को भेजा था, विशेष उल्लेखनीय है।
६२. रसमंजरी—	नायक-नायिका सम्बन्धी १०७ पद्य, महिमासिंह - मानकवि, खरतरगच्छीय उपाध्याय शिवनिधान के शिष्य रचनाकाल, वि. सं. १६७० से १६९३, अभय जैन्य ग्रंथालय, बीकानेर।
६३. वैद्यविरहिणीप्रबन्ध—	उदयराज (खरतरगच्छीय उपाध्याय भद्रसार के शिष्य, पद्य ७८, अभय जैनग्रन्थालय) बीकानेर।

६४. वज्जालग्गं टीका— रत्नदेव कृत टीका, वि. सं. १३९३ प्राकृतग्रन्थपरिषद, अहमदाबाद से प्रकाशित

६५. वज्जालग्गं विषमार्थ पदप्रदीप धनसार पाठक, वि. सं. १५५३

इसमें शृंगार सम्बन्धी ९६ विषयों पर पहले क्रममें ७९५ गाथाएँ हैं। इसके एपेण्डिक्स C प्रति से अतिरिक्त गाथाएँ पृ. २०६ से २६७ तक हैं, वि. सं. १५७० लिखित हमारे संग्रह में हैं।

६६. संदेशरासक टीका— यह कवि अब्दुर्रहमान की खण्डरूप में रचना है, जो सुखान्त विप्रलम्भ शृंगारका काव्य है। इसमें विक्रम पुर की एक वियोगिणी अपने प्रवासी पति के लिए प्रेम सन्देश भेजती है। सन्देशवाहक ज्यों ही प्रस्थान करता है, पति आ जाता है। इसपर रुद्रपल्लीय खरतरगच्छ के लक्ष्मीचन्द्र कृत टीका है।

६७. गाथासत्तसई (गाथासप्तशती)— भारतीय साहित्य में शृंगार रस विषयक महाराष्ट्री प्राकृत का सर्व प्राचीन ग्रन्थ है। यह हाल कवि शालिवाहन, (शक संवत् प्रवर्तक) की रचना है, जो स्वयं जैन था। इनके अनेक संस्करण देश-विदेश के विद्वानों द्वारा की गई टीकाओं सहित प्रकाशित हुए हैं। डॉ. हरिराम आचार्य ने पीताम्बर हारिताभ्र और भुवनपाल जैन की टीकाओं को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है क्योंकि भुवनपाल की टीका में ३८४ गाथाकार कवियों का नामोल्लेख किया गया है।

६८. गाथासत्तसई टीका	भुवनपाल जैन
६९. शृंगारवैराग्यतरंगिणीटीका	नन्दलाल/नन्दलाभ
७०. कन्दर्प चूड़ामणी	वीरभद्र, वि. सं. १६३३ जैन साहित्यनो इतिहास पृ. ५८६ एवं जैन गुर्जर कविओं, भाग२ में उल्लिखित है।
७१. अभिनवशृंगारमंजरी	जयवंतसूरि, वि. सं. १६१४
७२. विल्हण पंचाशिका चौपाई	सारंगकवि, वि. सं. १६३९
७३. मातृकापद शृंगाररस कलित गाथाकोश	जिनभद्र शिष्य वीरभद्र
७४. प्रेमपत्री दोहा	कवि जिनहर्ष—जसराजकी अनेक फुटकर कविताएँ शृंगार से ओत-प्रोत हैं। (जिनहर्ष ग्रन्थावली)

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि जैन आचार्यों ने भी जनसाधारण को आकर्षित करने के लिए अपनी रचनाओं में श्रृंगार रस को स्थान दिया, किन्तु श्रृंगार भी वैराग्य का सन्देश लिए हुए है।

यह तो सत्य है कि भारतीय परम्परा में भर्तृहरि-धनदेव आदि ऐसे अनेक आचार्य हुए हैं जिन्होंने श्रृंगार और वैराग्य दोनों पर समान रूप से अपनी लेखनी चलायी है, फिर भी उन्होंने श्रृंगार और वैराग्य पर पृथक्-पृथक् लिखा है। श्रृंगारिक वर्णन को वैराग्य की ओर मोड़ देना यह जैनाचार्यों की अपनी विशेषता रही है। सोमप्रभाचार्य भी ऐसे ही एक विशिष्ट आचार्य हैं। इन्होंने अपनो इस कृति में श्रृंगारिक वर्णन को अन्त में वैराग्य को दिशा में मोड़ दिया है।

श्रृंगारवैराग्यतरंगिणी के रचयिता सोमप्रभाचार्य का उपनाम 'शतार्थिक' था। इनके पितामह जिनदेव और पिता सर्वदेव थे। ये पोरवाड़ जाति के जैन थे। ये कुमारावस्था में हो दीक्षित हो गये थे। इन्होंने अपनी प्रखर-बुद्धि द्वारा जैन आगमों और अन्य शास्त्रों का तलस्पर्शी अभ्यास कर लिया था। ये बृहद्गच्छ (बड़गच्छ) के आचार्य विजयसिंहसूरि के शिष्य थे। बृहद्गच्छ की पट्टावली के अनुसार ये महावोर की पट्टपरम्परा के चालोसवें आचार्य थे। चूँकि ये बृहद्गच्छ के आचार्य विजयसिंह सूरि के शिष्य थे, अतः यह सिद्ध होता है कि ये श्वेताम्बर परम्परा के थे। श्वेताम्बर परम्परा में बृहद्गच्छ लगभग दसवीं शती में अस्तित्व में आया। इनका काल बारहवीं शताब्दी है क्योंकि 'कुमारपालप्रतिबोध' उनकी प्रथम कृति है जो एक मत के अनु-

सार कुमारपाल के राज्यकाल में ही संवत् ११९९ में लिखी गई थी। इस सन्दर्भ में एक और मान्यता यह है कि 'कुमारपालप्रतिबोध' की रचना सं० १२४१ में कुमारपाल की मृत्यु के पश्चात् हुई थी। इस प्रकार इनका काल बारहवीं शती के उत्तरार्द्ध से तेरहवीं शती के पूर्वार्द्ध तक माना जा सकता है।

लेखक की परम्परा के सम्बन्ध में कृति के तैंतीसवें श्लोक में 'शिव' और उनचालीसवें श्लोक में 'शिवपुरिम्' शब्दों का उल्लेख होने से विन्टरनित्ज ने यह कल्पना की, कि यह कृति मूलतः शैव परम्परा की होनी चाहिए, किन्तु उनकी यह कल्पना समुचित नहीं है, क्योंकि जेन-परम्परा में मोक्ष के लिए शिव, शिवपद ओर शिवपुरी इन शब्दों का प्रयोग सामान्य रूप से प्रचलित रहा है। लेखक और उसकी कुल परम्परा जैनधर्म से ही सम्बन्धित है। अतः लेखक और उसकी कृति के जैन होने के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है।

सोमप्रभाचार्य द्वारा विरचित कृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) कुमारपालप्रतिबोध (२) सुमतिनाथचरित (३) दमयन्तीचरित (४) शतार्थकाव्य (५) सूक्तिमुक्तावली और (६) शृंगारवैराग्यतरंगिणी।

१. **कुमारपालप्रतिबोध**—इस ग्रन्थ के विषय में विद्वानों की यह मान्यता है कि यह सोमप्रभाचार्य की प्रथम कृति है। इसके रचनाकाल के सन्दर्भ में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का मानना है कि यह ग्रन्थ राजा कुमारपाल के राज्यकाल में ही संवत् ११९९ में लिखा गया था और कुछ अन्य विद्वानों का मानना है कि इसकी रचना सं० १२४१ में कुमारपाल के मरणोपरान्त हुई। 'कुमारपालप्रतिबोध' जिनधर्मप्रतिबोध और हेमन्तकुमारचरित के नाम से भी जाना जाता है। इसे हेमचन्द्र और कुमारपालचरित इसलिए कहा गया है कि इसमें दोनों का चरित्र वर्णित है। यह कृति साहित्य विद्या की दृष्टि से एक विशिष्ट कृति है। प्रथम तो यह गद्य-पद्यमयी रचना है, अतः इसे चम्पू भी माना जा सकता है। दूसरे भाषा की दृष्टि से इसमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों हो भाषाओं का उल्लेख हुआ है। इसमें पाँच प्रस्ताव हैं, जिसमें पाँचवाँ प्रस्ताव अपभ्रंश और संस्कृत दोनों भाषाओं में निबद्ध है। ग्रन्थ में हेमचन्द्रसूरि के मुख से कुमारपाल को जैनधर्म के सिद्धान्त और आचार नियमों की विवेचना होने से, इसे जिनधर्म प्रतिबोध कहा गया है। इसमें श्रावक के बारह व्रतों के महत्त्व तथा उनके पाँच-पाँच अतिचारों को सूचित करने के लिए चौवन कहानियाँ भी दी गयी हैं जिनमें अमरसिंह,

दामन्नक, देवपाल, पद्मोत्तर, चन्दनबाला, धन्यश्रावक, कृतपुण्य, शीलवती, नलकथा (दमयन्ती कथा), द्वारिकादहन कथा आदि भी वर्णित हैं।

२. **सुमतिनाथचरित्र**—इसमें पाँचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ का चरित्र-चित्रण है। प्राकृत तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में रचित यह प्रथम ग्रन्थ है। इसका ग्रंथाग्र ९६२१ श्लोक प्रमाण है। जहां तक हमारी जानकारी है यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। जिनरत्नकोश की सूचना के अनुसार यह ग्रन्थ लिम्बडी, डेलाउपाश्रय भण्डार, अहमदाबाद, लोडी पोषाल संघवी पाड़ा, पाटन के ग्रन्थ भण्डारों में उपलब्ध है।

३. **दमयन्तीचरित्र**—सोमप्रभाचार्य की अन्य कृतियों में प्राकृत में निबद्ध दमयन्तीचरित्र है। यह ग्रन्थ कुमारपालप्रतिबोध (कुमारपाल-पडिबोह) के अन्तर्गत ही है।

४. **शतार्थकाव्य**—सोमप्रभाचार्य के शतार्थिक काव्य के मूल में तो एक ही पद्य है, जिस पर टीका की गई है और उस टीका में उन्होंने उस एक पद्य के एक सौ छः अर्थ निकाले हैं, जिसमें चौबीस तीर्थंकर, ब्रह्मा, विष्णु, महेश और राजाओं में कुमारपाल, राजपाल, जयसिंह आदि के चरित्र हैं। यह ग्रन्थ प्रकाशित है।

जैन परम्परा में यह मान्यता है कि एक सूत्र के अनन्त अर्थ होते हैं (एगस्स सुत्तस्स अनन्त अत्था)। इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए अनेक काव्यों की रचना हुई। इस सन्दर्भ में द्विसंधान, त्रिसंधान, चतुःसंधान, पंचसंधान, सप्तसंधान आदि ग्रन्थों की रचना हुई। अनेकार्थ काव्यों की परम्परा जैन परम्परा में पाँचवीं छठी शताब्दी से ही प्रारम्भ हो जाती है। वसुदेवहिण्डी में 'चत्तारि' अर्थ, गाथा के चौदह अर्थ किये गये हैं। धनञ्जय का द्विसंधान (८वीं शताब्दी), शान्तिराज कवि का पञ्चसंधान ११वीं शती), सूराचार्य का नाभेनेमि द्विसंधान (११वीं शती) अनेकार्थक रचनाएँ हैं। इसी क्रम में सोमप्रभाचार्य का 'शतार्थिककाव्य' भी आता है। यह परम्परा जैन कवियों में आगे भी जीवित रही और समयसुन्दर ने 'राजानोदधते सौख्यम्' के आठ लाख अर्थ अपनी कृति अष्टलक्षी में किये हैं। इसी क्रम में मेघविजय सप्तसन्धान भी एक प्रमुख काव्य है जो १८वीं शताब्दी की रचना है। इस प्रकार जैनों में अनेकार्थक काव्य रचने की परम्परा लगभग ५वीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर १८वीं शताब्दी तक चलती रही। किन्तु यहाँ हमारा विवेच्य विषय

केवल सोमप्रभाचार्य की रचनाओं का ही उल्लेख करना है अतः अनेकार्थक काव्यों के सम्बन्ध में चर्चा अपेक्षित नहीं है।

५. **सूक्तिमुक्तावली**—सोमप्रभाचार्य की सूक्तिमुक्तावली, सिन्दूरप्रकर और सोमशतक के नाम से भी जानी जाती है। इस कृति में १०० संस्कृत श्लोकों का संकलन है, जो जैनधर्म के विभिन्न विषयों से संबंधित हैं। कभी-कभी भ्रांतिवश इसका कर्ता दिगम्बर आचार्य सोमदेव को मान लिया जाता है जो सत्य नहीं है। वस्तुतः इसके कर्ता बृहद्गच्छ के सिंह सूरि के शिष्य सोमप्रभाचार्य हैं। जल्हणदेव ने अपनी सूक्ति-मुक्तावली (ई० सन् १२५०) में न केवल सूक्तिशतक के रचयिता के रूप में सोमप्रभाचार्य का उल्लेख किया है अपितु उनके प्रारम्भिक श्लोक—'लक्ष्मीः पश्यति' का निर्देश किया है। मात्र यही नहीं, शतार्थवृत्ति के अन्त में भी सोमप्रभ के इस ग्रन्थ का उल्लेख हुआ है। सोमप्रभाचार्य की यह कृति हर्षकीर्ति की टीका के साथ अहमदाबाद से सन् १९२४ में प्रकाशित हुई। इसके अतिरिक्त भी इस ग्रन्थ पर टीकाएँ लिखी गयी हैं। इस पर खरतरगच्छ के जिनहितसूरि के प्रशिष्य कल्याणराज के शिष्य चारित्रवर्धनगणि कृत टीका भी है जो वि० सं० १५०५ में लिखी गयी है। इसी प्रकार जिनसागर के शिष्य धर्मचंद की इस पर एक व्याख्या मिलती है। जिनरत्नकोश में इसकी टीकाओ के सम्बन्ध में जो अन्य सूचना प्राप्त है उसके अनुसार उपरोक्त तीन टीकाओं के अतिरिक्त खरतरगच्छ के जिनतिलकसूरि की टीका, मलधारीगच्छ के गुणनिधानसूरि के शिष्य गुणकीर्ति की वलभी नामक टीका, विमलसूरि की टीका तथा एक अज्ञात कृत टीका के साथ ही साथ भावचारित्र के टिप्पण भी मिलते हैं। इस प्रकार इस पर आठ टीकाएँ हैं।

यहाँ इन सबकी विशेष चर्चा में न जाकर केवल सोमप्रभाचार्य की श्रृंगारवैराग्यतरंगिणी के सन्दर्भ में ही अपने को सीमित रखना चाहेंगे।

६. **श्रृंगारवैराग्यतरंगिणी**—सोमप्रभाचार्यकृत श्रृंगारवैराग्यतरंगिणी शीर्षक यह कृति मात्र छियालिस पद्यों में निबद्ध है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है; इसमें सर्वप्रथम कामशास्त्र के अनुसार स्त्रियों के सौन्दर्य का नख-शिख वर्णन करके जहाँ एक ओर श्रृंगार का उद्रेक किया गया है वही दूसरी ओर उनसे सतर्क रहने का उपदेश देकर उस श्रृंगारिक वर्णन को वैराग्य की ओर मोड़ दिया गया है। इसका प्रारम्भ स्त्री के केशों के वर्णन से होता है।

श्रृंगारवैराग्यतरंगिणी के प्रकाशित संस्करणों के संदर्भ में जो सूचनाएँ

उपलब्ध होती हैं उनके अनुसार सर्वप्रथम यह ग्रन्थ वि० सं० १९४२ अर्थात् ई० सन् १९८५ में निर्णय सागर प्रेस से बड़ौदा के जगजीवन सुन्दर नामक श्रावक के द्वार मुद्रित करवाया गया था। यह प्रति पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पुस्तकालय में उपलब्ध है और प्रस्तुत कृति में मूल पाठ और संस्कृत टीका उसी के आधार पर प्रकाशित की गयी है। निर्णयसागर प्रेस के इस प्रथम संस्करण के पश्चात् प्रो० एच० आर कापड़िया सम्पादित गुजराती अनुवाद के साथ यह कृति बम्बई से सन् १९२३ में पुनः प्रकाशित हुई थी। उसके पश्चात् इस ग्रन्थ का अन्यत्र कहीं से प्रकाशन हुआ हो। यह हमारी जानकारी में नहीं है।

इस ग्रन्थ की संस्कृत टीका आगरा नगर में नन्दलाल द्वारा विरचित है। ज्ञातव्य है कि जिनरत्नकोश में नन्दलाल के स्थान पर नन्दलाभ का उल्लेख मिलता है। अतः यह एक विवाद का विषय हो सकता है कि इसके संस्कृत टीकाकार नन्दलाल हैं या नन्दलाभ। नन्दलाल नाम स्वीकार करने पर उन्हें गृहस्थ मानना होगा, जबकि नन्दलाभ-यह नाम होने पर वे मुनि या यति हो सकते हैं। टीका प्रशस्ति में यह भी कहा गया है कि गुरु की कृपा से और दानविशाल शिष्य के अनुरोध से सोमप्रभाचार्य की इस सुदुर्गम प्रति की वृत्ति अपनी अल्पबुद्धि द्वारा की गई है। अतः सम्भावना यही लगती है कि मूल नाम नन्दलाभ ही होना चाहिये। उन्होंने यह टीका आगरा में आचार्य श्रीजिनभक्ति के काल में लिखी थी। प्राप्त निर्देश के अनुसार श्री जिनभक्तिसूरिकृत यह टीका विक्रम संवत् १७५६ मार्गशीर्ष मास की त्रयोदशी शुक्रवार को लिखी गई थी।

ज्ञातव्य है कि श्रृंगारवैराग्यतरंगिणी छगनलाल उमेदचन्द के द्वारा चरित्र-संग्रह में अन्य आठ ग्रन्थों के साथ में भी प्रकाशित हुई है।

श्रृंगारवैराग्यतरंगिणी के नाम से दिवाकर मुनि द्वारा रचित एक अन्य कृति भी प्राप्त होती है। यह कृति बावन श्लोकों में रचित है। इसमें भी नारी का नख-शिख वर्णन करते हुए ही वैराग्य का उपदेश दिया गया है। इसके प्रारम्भ में यह कहा गया है कि जिन्होंने इन्द्राणी से भी अधिक सुन्दर राजमती का परित्याग करके चरित्र रूपी युवती से विवाह किया उन भगवान नेमिनाथ को नमस्कार करके मैं श्रृंगारवैराग्य मिश्रित निर्दोष वर्णन करूँगा। इसके रचयित के संघतिलकगणि के शिष्य दिवाकर मुनि हैं। इसकी रचना संवत् १६७२ ने पाटन में को गई। दिवाकर मुनि की श्रृंगारवैराग्यतरंगिणी का रचना-काल, विषय प्रतिपादन, शब्द योजना आदि को देखकर भी यह स्पष्ट लगता है कि दिवाकर मुनि के

समक्ष सोमप्रभाचार्य की शृंगारवैराग्यतरंगिणी रही। इस प्रकार शृंगारवैराग्यतरंगिणी के नाम से जो एकाधिक रचनाएँ प्राप्त होती हैं, उन सबमें सोमप्रभाचार्य की यह शृंगारवैराग्यतरंगिणी प्राचीन है और अपने प्रकार की प्रथम रचना है। कृति के लघुकाय होने पर भी इसका महत्त्व निर्विवाद है।

शृंगारवैराग्यतरंगिणी की भाषा सरलता के सौन्दर्य से भूषित है शृंगारवैराग्यतरंगिणी को सामान्यतः भाषा की दृष्टि से सुबोध कहा जा सकता है। सहजता तथा कोमलता शृंगारवैराग्यतरंगिणी की ऐसी विशेषतायें हैं जो प्रत्येक भाव अथवा प्रसंग के चित्रण में सर्वत्र विद्यमान है। इसमें एक भी ऐसा स्थल नहीं जिसे कष्ट साध्य अथवा दुर्बोध कहा जा सकता है।

भाषा पर पूर्ण अधिकार होते हुए भी आचार्य सोमप्रभ ने भाषा पाण्डित्य का अनावश्यक प्रदर्शन नहीं किया है। कवि ने उचित शब्दों के प्रयोग द्वारा अपने हृदयगत भावों तथा अभिप्रेत को सहज ढंगसे चित्रित किया है। इसमें काव्यपक्ष और भावपक्ष का सुन्दर समन्वय है। सोमप्रभ की भाषा प्रसाद गुण-युक्त तथा सुबोध है। चाहे संस्कृत हो या प्राकृत अपने भाषात्मक कौशल के कारण सोमप्रभ प्रत्येक वर्ण्य विषय का प्रभावशाली चित्रण करने में समर्थ हैं। सरलता तथा प्रौढ़ता के सम्मिश्रण से युक्त आचार्य की भाषा सर्वत्र उदात्त है। भावानुकुल शब्दों के विवेकपूर्ण चयन तथा कुशल गुम्फन से ध्वनि सौन्दर्य की सृष्टि कराने में सोमप्रभ सिद्धहस्त हैं। उन्होंने शृंगार के प्रसंगों को अल्प समास वाली पदावली में निबद्ध किया है। कवि ने काव्य में उपमाओं का प्रयोग कुशलता से किया है।

इसप्रकार शृंगारवैराग्यतरंगिणी सर्वजन ग्राह्य एवं महत्त्वपूर्ण कृति है।

अक्षय तृतीया संवत् २०५२

सागरमल जैन
निदेशक
पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी

शृङ्गारवैराग्यतरङ्गिणी

(संस्कृत-व्याख्या एवं हिन्दी अर्थ सहित)

ॐ नमोऽर्हद्भ्यः

श्रीपार्श्वनाथं प्रणिपत्य भक्त्या पुरि स्थितं श्रीफलवर्द्धिकायम् ।।
शृंगारवैराग्यतरंगिणी या व्याख्यानतो व्याक्रियते मया सा ।।१।।

धर्मारामदवाग्निधूमलहरीलावण्यलीलाजुष-
स्तन्वंग्यायमितान्विलोक्य तदहो वालान्किमुत्कण्ठसे ।।
व्यालान्दर्शनतोऽपि मुक्तिनगरप्रस्थानविघ्नक्षमा-
न्मत्वा दूरममून् विमुंच कुशलं यद्यात्मनो वाञ्छसि ।।१।।

सोमप्रभाचार्य्याः वैराग्यवासनया शृंगारं दूषयन्तः शृङ्गारवैराग्यतरंगिणीनामानं ग्रन्थं कर्त्तुकामाः स्त्रीरूपं निन्द्यमिति प्रतिपादयन्त ऊचुः । धर्मारामेति । अहो इत्याश्चर्य्ये, तन्वंग्याः तनुः सूक्ष्ममंगं यस्याः सा तन्वंगी तस्याः स्त्रिया यमितान् बद्धान् वालान् केशान् विलोक्य दृष्ट्वा किमुत्कण्ठसे किम् उत्कण्ठां करोषि । कथंभूतान् वालान् ? धर्मारामदवाग्निधूमलहरीलावण्यलीलाजुषः, धर्म एव आरामो वनं तत्र यो दावाग्निर्दावानलः तस्य या धूमलहरी धूमश्रेणिः तस्या यल्लावण्यं श्यामत्वं तस्य लीलां जुषन्ते सेवन्त इति लीलाजुषः तान् । जुषी प्रीतिसेवनयोर्धातुः । दवाग्निधूमपंक्तिसदृशानित्यर्थः । अथ वैराग्यरसेन शृंगारं दूषयति—रे मनुष्य ! यदि त्वम् आत्मनः स्वस्य कुशलं कल्याणं वांछसि तदा अमून् वालान् व्यालान् सर्पान्मत्वा कृष्णवर्णत्वाल्लम्बायमानत्वाच्च सर्पसादृश्यं वालानां युक्तमेव, दूरं विमुंच दूरतस्त्यज इत्यर्थः । सर्पं दृष्ट्वा यथा दूरमेव पलायते तथा त्वमपि दूरं पलायस्वेत्यर्थः । किं० वालान् ? दर्शनतोऽपि मुक्तिनगरप्रस्थानविघ्नक्षमान् । मुक्तिरेव नगरं तत्र यत् प्रस्थानं गमनं तत्र विघ्नाय विघ्नं कर्तुं क्षमाः समर्थास्तान् । सर्पस्य दर्शनादेव गमने विघ्नसमुत्पत्तिरिति शकुनशास्त्रे प्रसिद्धम् । तन्वंग्या यमितान्वालान् व्यालान् जानीहि । तथाहि श्लेषार्थोऽयम् । यकारम् इताः प्राप्ताः संयुक्ता वा वाला व्याला भवन्तीति युक्तमेव वालानां व्यालत्वम् । इदं शार्दूलविक्रीडितं नाम छंदः ।। इति प्रथमपद्यार्थसंकोचः ।।१।।

अर्थ—आश्चर्य है (हे मानव) धर्म रूपी उपवन में लगी दावाग्नि की (काली) धूमरेखा की भाँति कामिनी के सुन्दर श्यामवर्ण वाले सुसज्जित केशों को देखकर क्यों आकर्षित होते हो। यदि आत्म-कल्याण चाहते हो तो मोक्षनगर हेतु प्रस्थानकाल में साँप का दर्शन-मात्र भी विघ्नकारी होने से इन सर्परूपी काले केशों का दूर से त्याग करो ॥१॥

विशेषार्थ—काले धुएँ से स्त्री के श्यामवर्ण केशों का सादृश्य दिखाया गया है और उन्हीं लम्बे गुँथे हुए केशों को साँप से सादृश्य बताते हुए कल्पना की गई है कि ये सुसज्जित केशराशियाँ मुक्तिमार्ग में उसी प्रकार बाधक हैं, जिस प्रकार लोक में सर्प-दर्शन यात्रादि के समय विघ्न कारक होते हैं।

ये केशा लसिताः सरोरुहदृशां चारित्रचन्द्रप्रभा-
भ्रंशांभोदसहोदरास्तव सखे चेतश्चमत्कारिणः ॥
क्लेशान्मूर्त्तिमतोऽवगम्य नियतं, दूरेण तानुत्सृजे-
र्नोचेत् कष्टपरम्परापरिचितः शोच्यां दशामेष्यसि ॥२॥

हे सखे ! सरोरुहदृशां सरोरुहाणि कमलानीव दृशो नेत्राणि यासां ताः सरोरुहदृशस्तासां स्त्रीणां ये लसिता देदीप्यमानाः केशाः तव चेतश्चमत्कारिणः चित्त-प्रसत्तिकारिणः वर्त्तन्त इति शेषः। किंभूताः केशाः—चारित्रचन्द्रप्रभाभ्रंशांभोदसहोदराः। चारित्रमेव चन्द्राप्रभा ज्योत्स्ना तस्या भ्रंशे नाशने अंभोदो मेघस्तस्य सहोदराः सदृक्षाः। केशानां श्यामत्वादम्भोदसदृशत्वं, तान् केशान् मूर्त्तिमतश्चक्षुरिंद्रियगम्यान्, क्लेशान् नियतं निश्चयेन अवगम्य बुद्ध्वा दूरेण दूरादेव त्वमुत्सृजेस्त्यजेः। नोचेदिति, यदि न त्यजसि तदा त्वं शोच्यां शोचनीयां दशामवस्थामेष्यसि प्राप्स्यसि। किंभूतस्त्वम् ? कष्टपरंपरापरिचितः कष्टानां या परंपरा श्रेणिः तया परिचितः युक्तः। स्त्रीणां केशान् क्लेशान् ज्ञात्वा त्यजेत्यर्थः। केशाः क्लेशाः कथं स्युरिति प्रश्ने, लसिताः लेन लकारेण सिता बद्धाः केशाः क्लेशा भवंतीत्यर्थः ॥२॥

अर्थ—हे सखे ! तुम्हारे हृदय को आह्लादित करने वाले कमलनयनी कामनियों के सुसज्जित केश चारित्ररूपी चन्द्रिका को नष्ट करने वाले मेघ के सहोदर हैं। केशों को साक्षाद् दुःख जानकर उनका दूर से ही परित्याग करो। यदि (ऐसा) नहीं करते हो तो दुःखों की श्रृंखला से

युक्त अर्थात् कभी समाप्त न होने वाले दुःखों के कारण तुम शोचनीय दशा को प्राप्त करोगे ।।२।।

विशेषार्थ—इसमें स्त्रियों के सुसज्जित केशों की तुलना चन्द्रमा को आच्छादित करने वाले बादलों से की गयी है।

ये शुद्धबोधशशिखण्डनराहुचण्डा-
श्चित्तं हरन्ति तव वक्रकचाः कृशांग्याः ।।
ते निश्चितं सुकृतमर्त्यविवेकदेह-
निर्दारणे ननु नवक्रकचाः स्फुरन्ति ।।३।।

हे पुमन् ! कृशांग्याः कृशं सूक्ष्मम् अङ्गं यस्याः सा तस्याः ये वक्रकचाः वक्रकेशास्तव चित्तं हरन्ति। तव चेतसि चमत्कारमुत्पादयन्तीत्यर्थः। कथंभूताः वक्रकचाः ? शुद्धबोध शशिखण्डनराहुचण्डाः। शुद्धबोधो निर्मलज्ञानं स एव शशी तस्य खण्डनेऽर्थात्कवलने राहुरिव चण्डाः क्रूराः शुद्धबोध०। फलितार्थस्तु राहुर्यथा चन्द्रं ग्रासीकरोति तथा एते वक्रकचा ज्ञाननाशका इत्यर्थः। ननु निश्चितं ते वक्रकचाः सुकृतमर्त्यविवेकदेहनिर्दारणे। सुकृतमेव मर्त्यस्तस्य यो विवेक एव देहस्तस्य निर्दारणे नवक्रकचाः। नवाश्चैते क्रकचाश्च नवक्रकचाः। नूनं करपत्राणि। क्रकचं पुंनपुंसकम्। करपत्रं चेति नाम कोशः। स्फुरन्ति स्फुरद्रूपा-वर्तन्त इत्यर्थः। अत्र क्रकचाः नवक्रकचा भिन्नश्लेष एव चमत्कारः ।। वसन्ततिलका छन्दः ।।३।।

अर्थ—हे मनुष्य ! तन्वांगी (नारी) के जो काले घुँघराले केश तुम्हारे मन को लुभा रहे हैं, वे तुम्हारे निर्मल ज्ञानरूपी चन्द्रमा को खण्डित अर्थात् कवलित करने में राहु के समान क्रूर हैं। ये केश पुण्यरूपी मनुष्य की विवेकरूपी काया को छिन्न-भिन्न कर देने में नये आरे के समान हैं ।।३।।

विशेषार्थ—प्रस्तुत श्लोक में मनुष्य के निर्मल ज्ञान की तुलना चन्द्रमा से और कामिनी के सुसज्जित केशों की तुलना राहु ग्रह से की गई है। जिस प्रकार राहु ग्रह चन्द्रमा को ग्रसित कर लेता है उसी प्रकार स्त्री के मनोहारी केश संयमी के निर्मल ज्ञान को मलिन करने वाले हैं।

अलङ्कृतं कुन्तलभारमस्या
विलोक्य लोकः कुरुते प्रमोदम् ।।

वैराग्यवीरच्छिदुरं दुरन्त-
ममुं न किं पश्यसि कुन्तभारम् ॥४॥

अस्याः नायिकायाः कुन्तलभारं बद्धकेशसमूहम् । कुन्तलाः संयता ये स्युरिति कोशः । विलोक्य लोकः प्रमोदं हर्षं कुरुते । कथंभूतं कुन्तलभारम् ? अलंकृतं पुष्पादिना संस्कृतं, अमुं कुन्तलभारं कुन्तभारम् । कुन्तः प्रासोऽथमुद्गर इति नामकोशः । किं न पश्यसि ! कथंभूतं कुन्तभारम् ? वैराग्यमेव वीरः सुभटस्तस्य छिदुरः छेदनशीलः तम् । पुनः कथं० कुन्तभारं दुरन्तं दुष्टमन्तं प्रान्तं यस्य तम् । अन्ते तीक्ष्णत्वाद् दुःसहमित्यर्थः । कुन्तलभारः कुन्तभारः कथं स्यात् ? न विद्यते लः लकारो यस्य सोऽलस्तम् अलंकृतं विहितम् । लकाररहितः कुन्तलभारः कुन्तभारः स्यादेवेत्यर्थः ॥ उपेन्द्रवज्रानाम छन्दः ॥४॥

अर्थ—इस नायिका के (पुष्पादि से) सुसज्जित केशराशि को देखकर लोग प्रफुल्लित होते हैं परन्तु तुम यह क्यों नहीं देखते अर्थाद् विचार करते कि ये वैराग्य रूपी वीर को काटने में तीक्ष्ण भाले के समान हैं ॥४॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत श्लोक में नायिका के सुसज्जित लम्बे केशों की तुलना तीक्ष्ण भाले से की गई है। संयमी पुरुषों के वैराग्य की तुलना वीर से की गई है। जिस प्रकार तीक्ष्ण भाला वीर योद्धा को छेद डालता है उसी प्रकार युवतियों के केश वैराग्य के लिए अनर्थकारी हैं।

कस्तूरिकातिलकितं कुलिताष्टमींदु-
चित्ते विचिन्तयसि सौख्यनिमित्तमेकम् ।
वामभ्रुवां यदलिकं तदहो अलीक-
मित्याख्ययैव परया प्रवदन्ति रूपम् ॥५॥

वामभ्रुवां स्त्रीणां यद् अलिकं ललाटम् एकमद्वितीयं सौख्यनिमित्तं सुखकारणं चित्ते विचिन्तयसि । कथंभूतम् अलिकम् ? कस्तूरिकातिलकितं तिलकं जातं यस्य तत्तिलकितं कस्तूरिकया तिलकितम् । पुनः कथंभूतम् अलिकम् ? तुलिताष्टमींदु तुलितोऽष्टम्या इंदुर्येन तद् अष्टमीचन्द्रसदृशमित्यर्थः । अहो इत्याश्चर्य्ये । तदलिकं परया अन्यया आख्यया नाम्ना अलीकमिति रूपं वदन्ति बुधाः । गोधिर्ललाटालिके चालीकं श्रवणमस्त्रियामिति नामकोशः । अलिकम् अलीकमित्युभयं नाम ललाटस्य । अलीकं मृषा वचः अलिकम् अलीकं मिथ्या जानीहीत्यर्थः ॥५॥

अर्थ—अष्टमी के चन्द्रमा के समान कस्तूरी तिलक से सुशोभित कामिनियों के जिस ललाट को तुम सुख का एकमात्र निमित्त समझते हो उसे विद्वान् अन्य प्रकार से मिथ्या रूप कहते हैं ॥५॥

न भ्रूरियं पंकजलोचनाया-
श्चकास्ति शृंगाररसैकपात्रम् ।
भूः किंत्वसौ साधुतरा प्रसूते
निबंधनं मोहविषद्रुमस्य ॥६॥

पङ्कजलोचनायाः कमलाक्ष्याः इयं भ्रूर्न चकास्ति न शोभते । कथंभूता भ्रूः ? शृंगाररसैकपात्रं शृंगाररसस्य एकमद्वितीयं पात्रं स्थानम् । अजहल्लिंगत्वान्नपुंसकत्वम् । किं त्वसौ भ्रूः साधुतरा अतिशयेन साध्वी साधुतरा । तरतमेति पुंवद्भावः, श्रेष्ठतरा भूः भूमिः सा मोहविषद्रुमस्य मोह एव विष द्रुमस्तस्य निबंधनं आविर्भावं प्रसूते उत्पादयति । भ्रूर्भूः कथमिति प्रश्ने सा प्रसिद्धा भ्रूः । धुतरा—धुतो गतो रो रेफो यस्या ईदृशी भ्रूर्भूर्भवतीत्यर्थः । इंद्रवज्रा नाम छन्दः ॥६॥

यह कमल नेत्री का भ्रू नहीं (बल्कि) शृंगार रस का एक पात्र है। वह कैसा है ?—मोहरूपी विष-वृक्ष के उत्पन्न करने में अत्यधिक श्रेष्ठ भूमि के समान है ॥६॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत दोनों श्लोकों में तिरछे नेत्रों वाली नायिकाओं के ललाट और भौंहों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि उनके सुन्दर ललाट जिनका पर्यायवाची अभीक है, वे वास्तव में अलीक अर्थात् छलावें हैं और उनकी तिरछी भौंहे शृङ्गार रस उत्पन्न करने का पात्र है। जिसको भ्रू समझते हो, वस्तुतः वे भ्रू नहीं मोहरूपी विषवृक्ष के विकास की उर्वरा भू अर्थाद् भूमि है।

नवकुवलयदामश्यामलान् दृष्टिपातान्
कृतापरमदनाशान् विक्षिपत्यायताक्षी ।
इति वहसि मुदं किं मोहराजप्रयुक्तान्
प्रशमभटवधार्थं विद्धिचमून् दृष्टिपातान् ॥७॥

आयताक्षी—आयते विस्तीर्णे अक्षिणी यस्याः सा एवंविधा मामुद्दिश्य दृष्टिपातान् कटाक्षान् विक्षिपति प्रयुंक्ते । किंविशिष्टान् दृष्टिपातान् ? नवकुवलय-

दामश्यामलान्—नवानि यानि कुवलयानि तेषां दाम माला तद्वत् श्यामलाः कृष्णास्तान् श्यामलान् । पुनः किंविशिष्टान् दृष्टिपातान् ? कृतपरमदनाशान् कृतः परमदस्य नाशो यैस्तान् । इति मुदं हर्षं किं वहसि प्राप्नोषि अमून् दृष्टिपातान् प्रशमभटवधार्थं प्रशमः शान्तिभावः स एव भटः तस्य वधार्थम् । मोहराजप्रयुक्तान् मोह एव राजा मोहराजः । राजाहःसखिभ्यष्टच् समासान्तः । तेन प्रयुक्तान् ऋष्टिपातान् तरवारिपातान्, तरवारिरपिद्वौ च ऋष्टिरिष्टी अखण्डकाविति नाम कोशः । विद्धि जानीहि । दृष्टिपातान् ऋष्टिपातान् जानीहि । तत्कथम् ? कृतपरमदनाशान् । कृतः परमः सर्वात्मना दस्य दकारस्य नाशो यत्र ते कृतपरमदनाशास्तान् । दृष्टिपातशब्दे दकारनाशे ऋष्टिपात इति स्यादेव । मालिनी नाम छन्दः ॥७॥

अर्थ—चञ्चल (विशाल) नेत्रों वाली दूसरों के मद को नष्ट करने वाले नवीन नील कमल की पंक्ति के समान श्यामल दृष्टिपात करती है । तू उससे क्यों आनन्दित होता है । अरे ! उस दृष्टिपात को शान्तिरूपी योद्धा को मारने के लिए मोहराज के द्वारा किया गया वज्रपात जानो ॥७॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत श्लोक में कवि ने आत्मकल्याण के इच्छुकों के प्रति संयम में दृढ़ता लाने के लिए स्त्री के नेत्रों के विकार से बचने का मार्ग बताया है । इस बात को स्पष्ट करते हुए कवि ने संकेत किया है कि चञ्चल नेत्रों के देखने मात्र से ही मन की परमशान्ति भंग हो जाती है । संयमी को संयम में दृढ़ रहने का पहला चरण नेत्र-संयम ही है ।

तस्याः कोपपदं यदाननमहोरात्रं स्मरन्नात्मनः
संतापं वितनोषि काननमहो ज्ञात्वा सखे तत्त्यजेः ।
एतस्मिन्वसता मनोभवमहासर्प्पेण दष्टः पुमान्
कार्य्याकार्य्यविवेकशून्यहृदयः कस्को न संजायते ॥८॥

हे सखे ! तस्याः स्त्रिया यद् आननं मुखम् अहोरात्रं स्मरन् स्मृतिविषयं कुर्वन् त्वम् आत्मनः स्वस्य संतापं वितनोषि विस्तारयसि ॥ कथंभूतम् आननम् ? कोपपदं कोपस्य पदं स्थानं तद् आननम् अहो इति खेदे काननं वनं ज्ञात्वा त्वं त्यजेः ॥ एतस्मिन्कानने वसता स्थितिं कुर्वता मनोभवमहासर्प्पेण मनोभवः कामः स एव महासर्पस्तेन पुमान् दष्टः सन् कस्कः । सर्वस्य द्वे इति द्वित्वम् । कस्कादित्वात्सत्वम् ॥ कार्याकार्यविवेकशून्यहृदयः । कार्यं चाकार्यं च कार्याकार्ये तयार्विवेकस्तेन शून्यं हृदयं

यस्य स तथा न संजायते । सर्पविषेण मूर्च्छितः पुमान् शून्यहृदयो भवति । अयं तु महासर्पेण दष्टस्तस्य किं वाच्यम् । आननं काननं कथमिति प्रश्ने । आननं कोपपदं कः ककार उपपदं यस्य तदा काननं स्यादेवेत्यर्थः ॥८॥

अर्थ—हे मित्र ! उस स्त्री के कोपपद रूपी आनन अर्थात् मुख को रात-दिन स्मरण करते हुए अपने दुःख को बढ़ाते हो । अरे ! उसके आनन को कानन अर्थात् भयंकर वन समझकर उसका स्मरण त्याग दो । उस (स्त्री के आनन रूपी कानन) में रहने वाले कामदेव रूपी भयंकर सर्प द्वारा दंसित कौन ऐसा पुरुष है जो कार्य्याकार्य्य के विवेक से रहित हृदय वाला नहीं हो गया है ॥८॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत स्थल में भी कवि पूर्ववत् ही संकेत करता है कि स्त्री के सुन्दर मुख का स्मरण मात्र भी संयमी साधक के लिए महा-विनाशकारी है ।

यहाँ स्त्री के मुख को भयानक वन की उपमा दी गई है तथा उससे संलग्न कामतत्त्व को भयानक सर्प की उपमा दी है ।

साकारमालोक्य मुखं तरुण्याः
किं मुग्धबुद्धे मुदमादधासि ।
इदं हि चित्तभ्रमनाटकस्य
विचक्षणैरामुखमाचचक्षे ॥९॥

हे मुग्धबुद्धे ! मुग्धा बुद्धिर्यस्य तत्संबोधनम् । तरुण्या मुखम् आलोक्य किं मुदं हर्षम् आदधासि धारयसि । कथंभूतं मुखम् ? साकारम् आकारेण सह वर्त्तमानं साकारं सुंदरमित्यर्थः । हि निश्चितम् इदं मुखं विचक्षणैर्विद्वद्भिः चित्तभ्रमनाटकस्य चित्तभ्रम एव नाटकस्तस्य आमुखमाद्यारम्भम् आचचक्षे इत्यत्र कर्मणि लिट् । मुखम् आमुखं त्वित्थम् । साकारम् आकारेण सह वर्त्तमानं मुखम् आमुखं स्यादित्यर्थः ॥९॥

अर्थ—हे मोहित बुद्धि वाले ! युवती के सुन्दर मुख को देखकर क्यों हर्षित होते हो ? इस मुख को ज्ञानी पुरुषों ने चित्तभ्रमनाटक अर्थाद् विवेक भ्रष्टता का आमुख अर्थाद् आरम्भ कहा है ॥९॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत श्लोक में कवि अपनी बात को स्पष्ट करते हुए संकेत करता है कि स्त्री के मुख की तरफ देखना ही व्यक्ति को संयम पथ से विचलित कर सकता है । कवि आगे कहता है कि पथभ्रष्टता का आरम्भ ही तरुणी के मुख की तरफ देखने से होता है ।

कामज्वरातुरमते तव सर्वदास्यं
वामभ्रुवां यदि कथंचिदवाप्तुमिच्छा ।
यत्नं विनाप्यखिलजन्मपरम्परासु
तज्जातमेव भवतो ननु सर्वदास्यम् ।।१०।।

हे कामज्वरातुरमते ! कामज्वरेण आतुरा मतिर्यस्य तत्संबोधनं हे काम० ।। सर्वदा सर्वस्मिन्काले यदि तव वामभ्रुवां स्त्रीणां आस्यं मुखं कथंचित्केनापि प्रकारेण अवाप्तुं प्राप्तुमिच्छा वर्त्तते, तदा ननु निश्चितं यत्नं विनापि अखिलजन्मपरम्परासु । जन्मनः परम्पराः श्रेणयः अखिला या जन्मपरंपरास्तासु भवतस्तव सर्वदास्यं दासस्य भावो दास्यं सर्वेषां भृत्यत्वं जातमेव । स्त्रीमुखदत्तचित्तस्य तव सर्वजनानां दासत्वं जातमेव । अत्र पद्ये उभयत्र सर्वदास्यमिति पदस्य भिन्नार्थमेव चित्रम् । बसंत-तिलका नाम छन्दः ।।१०।।

अर्थ—हे काम से पीड़ित मति वाले ! यदि स्त्रियों का मुख येन केन प्रकारेण प्राप्त करने की सदा तुम्हारी इच्छा है तो निश्चित ही बिना यत्न के भी जीवन-मरण की शृंखला में आपको सभी प्रकार से दासत्व उत्पन्न हो गया है ।।१०।।

विशेषार्थ—प्रस्तुत श्लोक में कवि ने कामातुर बुद्धि के भयंकर परिणामों का परिचय कराया है । आगे कहा है कि वस्तुतः जन्म-मरण की परम्परा का कारण भी स्त्री की तरफ देखना है । तथा असंख्य जन्मों तक दासता के कष्ट का भी कारण यही है ।

तस्याः साधुरदं विलोक्य वदनं यः संश्रयत्यंजसा
मुक्त्वा मुक्तिपथं हहा प्रविशति भ्रांत्या सदुर्गं वने ।।
तच्चात्यन्तमचारुबद्धवसतिर्येनात्र रागादिभि-
श्चौरैर्द्धर्मधनापहारकरणात्कष्टं न किं प्राप्यते ।। ११ ।।

यः पुमान् तस्याः स्त्रियाः वदनं मुखं साधुरदं साधवः समीचीना रदा यस्मिन् तत् तथा विलोक्य अंजसा वेगेन संश्रयति आश्रयति स पुमान् हहा इति खेदे मुक्ति-पथं मुक्तिमार्गं मुक्त्वा भ्रांत्या भ्रमेण दुर्गं दुःखेन गमनार्हं वनं प्रविशति तद्वनम् अत्यन्तम् अन्तमतिक्रान्तम् अप्रमाणमित्यर्थः । कथंभूतः सः ? अचारुबद्धवसतिः न चारुरचारुः बद्धा वसतिर्येन सः । येन वनं प्रविशता पुरुषेण अत्र वने कष्टं किं न प्राप्यते । कस्माद् रागादिभिश्चौरैर्धर्मधनापहारकरणात् । धर्म एव धनं

धर्मधनं तस्यापहारः हरणं तस्य करणं तस्मात्। चौरा हि धनमपहृत्य वनं प्रविशन्ति तदा कष्टं स्पष्टमेव। तत्र वदनं कथं वनमिति प्रश्ने—यः साधुः अदं न विद्यते दकारो यस्मिन् तद् अदम् ॥ दकाररहितं वदनं वनं स्यादेव ॥ ११ ॥

अर्थ—जो संयमी पुरुष कामिनी के सुन्दर दन्तयुक्त मुख को देखकर शीघ्रता से आकर्षित होता है। खेद है कि वह मुक्तिपथ से च्युत होकर भ्रमवश भयानक वन में प्रवेश करता है। वह वन अत्यन्त प्रमाणरहित-निर्जन है, जिसमें निवास करने वाले रागादि चोरों द्वारा धर्मरूपी धन का हरण हो जाता है अर्थाद् जीवन में कष्टों की शृंखला आरम्भ हो जाती है ॥ ११ ॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत श्लोक में कवि कहता है कि तरूणी के मुख-मण्डल अथवा उसके सुन्दर दन्तावलियों को देखने में जो संयमी लीन होता है तो समझना चाहिए कि उसने मोक्षमार्ग से भ्रष्ट होकर भयंकर वन का रास्ता पकड़ लिया। कवि आगे कहता है कि उस भयंकर वन में रहने वाले रागादि लुटेरें उस मोक्ष पथिक के पास रहे-सहे धर्मधन का भी हरण कर लेते हैं और उसे निर्धन बना देते हैं। भला ऐसी स्थिति में सुख कहाँ !

यियाससि भवोदधेर्यदि तटं तदेणी—
दृशामहीनमधरंधरं परिहरेः परं दूरतः ॥
इहास्फलनतोऽन्यथा विशदवासनानौ स्तव
व्रजिष्यति विशीर्णतां न भविता ततो वांछितम् ॥१२॥

हे पुमन्! यदि त्वं भवोदधेः संसारसमुद्रस्य तटं पार यियाससि यातुमिच्छसि ॥ यातेः सन्नंतान्मध्यमपुरुषैकवचनरूपम्। तदा एणीदृशाम् एणी हरिणी तस्या दृश इव दृशो यासां तास्तासाम् अधरं धरं पर्वतं दूरतो दूरात्परं त्वं परिहरेः। किंभूतमधरम्? अहीनं परिपूर्णम् अमृतादिना। अन्यथा यदि न परिहरसि तर्हि इह पर्वते आस्फलनतः संघट्टनात् तव विशदवासना निर्मलवासना स्तव नौः विशीर्णतां भंगतां व्रजिष्यति ततस्तद्वांछितं न भविता न भविष्यति, यथा समुद्रमध्ये पर्वतास्फलनान्नाविभग्नायां वांछितं न भवेत्तथेत्यर्थः। अधरं धरं कथमिति प्रश्ने उत्तरम्—अहीनम् एन अकारेण हीनम् अधरं धरं स्यादेव। सानुमान् पर्वतो धरः। धरः शैलस्तथोदय इति कोशः। पृथ्वीगुरुनाम छन्दः ॥ १२ ॥

अर्थ—हे पुरुष! यदि तू संसार सागर को पार करना चाहता है तो मृगनयनी तरुणी के अमृतपूरित अधररूपी धर अर्थात् पर्वत को दूर से

हो त्याग दे। अन्यथा इस पर्वत से टकराकर तेरी निर्मलबुद्धि रूपी नौका टूट जायेगी और तेरी हार्दिक इच्छा कभी पूरी नहीं होगी ॥ १२ ॥

विशेषार्थ—कवि संयमी को लक्ष्य करके कहता है कि हे मोक्षकामी पुरुष ! सुन्दर नेत्रों वाली तरुणी के अधर जो तुम्हें अमृतपूरित लग रहे हैं वे तुम्हारे मार्ग में पर्वत के समान बाधक हैं, वे बुद्धि को भ्रष्ट करने में उसी प्रकार समर्थ हैं जिस प्रकार समुद्र में पर्वत नौका को खण्डित करने में समर्थ होते हैं। अतः तू दूर से ही उसका त्याग कर दे।

न भातीदं भ्रातः स्फुरदरुणरत्नौघकिरण-
प्रतानं तन्वंग्यास्तरलतरलं कुण्डलयुगम् ॥
दमं दुग्धं पुंसामिह विरहसंयोगदशयो-
र्ज्वलच्छोकानंगज्वलनयुगिदं कुण्डयुगलम् ॥ १३ ॥

हे भ्रातस्तन्वंग्याः कृशांग्याः इदं कुण्डलयुगं कुण्डलस्य कर्णाभरणस्य युगं न भाति न शोभते। कथंभूतं कुण्डलयुगम् ? स्फुरदरुणरत्नौघकिरणप्रतानं स्फुरंतो देदीप्यमाना ये अरुणरत्नौघा रक्तरत्नसमूहास्तेषां ये किरणास्तेषां प्रतानं समूहो यस्मिस्तत्। पुनः कथंभूतं कुण्ड० ? तरलतरलं तरलाच्चंचलात्तरलं चंचलं चंचलतरमित्यर्थः। कथंभूतं कुंडलयुगलं विरहसंयोगदशयोः ? स्त्रीपुंसयोः संयोगाभावाद्विरहोत्पत्तिः, विरहश्च संयोगश्च विरहसंयोगौ तयोर्दशे अवस्थे तयोः। शोकानंगज्वलनयुक् शोकश्चानंगज्वलनश्च शोकानंगज्वलनौ ताभ्यां युग् विरहे शोकाविर्भावः। संयोगे कामाग्नेराविर्भाव इत्यर्थः। कुंडलयुगलं किं कुर्वन् ? इह संसारे पुंसां पुरुषाणां दममुपशमं दुग्धं पयः। ज्वलत्कुंडलयुगं कुण्डयुगलं कथं तत्रोच्यते—तरलतरलश्चंचलतरः लो लकारो यस्मिन्। कुंडशब्दाल्लकारे कुंडलयुगस्य चंचलत्वाद् युगशब्दात्परतः स्थिते सति कुंडयुगलं स्यादित्यर्थः ॥ शिखरिणी नाम छन्दः ॥ १३ ॥

अर्थ—हे भ्रात ! (इस) तरुणी का लाल रत्नों की किरणों से देदीप्यमान यह कुण्डल युगल अच्छा नहीं लगता। (क्योंकि) विरह और संयोग की अवस्था में पुरुषों के पौरुष का दमन करने वाले शोकाग्नि और कामाग्नि से जलते हुए ये दो कुण्ड हैं ॥ १३ ॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत स्थल में कवि स्त्री के कुण्डल की ओर आकर्षित होने वाले संयमी साधक को सावधान करते हुए कहता है कि जिसको

तुम सुन्दर कुण्डल युगल समझते हो वस्तुतः वह शोकाग्नि और कामाग्नि से जलते हुए कुण्ड हैं। अतः संयम के प्रति सर्वथा घातक हैं।

ताडकं सस्पृहं तस्याः
पश्यन्मूढ परे भवे ॥
नरो नरकपालेभ्य
स्ताडं कं न सहिष्यते ॥ १४ ॥

मूढो नरस्तस्याः स्त्रियाः सस्पृहं साभिलाषं यथा स्यात्तथा ताडकं कर्णभूषणं पश्यन् परे भवे आगामिभवे नरकपालेभ्यः नरकान् पालयन्ति ते नरकपालास्तेभ्यः परमाधार्मिकेभ्यः कं ताडं ताडनं ताडः आघातस्तं कं न सहिष्यते अपि तु सर्वं सहिष्यते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥ १४ ॥

अर्थ—हे मूर्ख पुरुष ! लालसापूर्वक उस तरुणी के कर्णाभूषण को देखते हुए तू आगामी भव में क्या नरकपालों द्वारा दुःख नहीं सहेगा अर्थात् तुझे सब दुःख सहन करने पड़ेंगे ॥ १४ ॥

सारं गलं यमरविंदविलोचना-
मालोक्य चेतसि मुदं कलयन्ति मूढाः ॥
हा निश्चितं रचितमुक्तिपुरप्रवेश-
व्याषेधमर्गलममुं न विचारयन्ति ॥ १५ ॥

मूढाः मूर्खा नराः अरविन्दविलोचनानां कमलनयनानां स्त्रीणां यं सारं श्रेष्ठं गलं निगरणं विलोक्य ? चेतसि मुदं हर्षं कलयन्ति प्राप्नुवन्ति। हा इति खेदे निश्चितं नियमेन इमं गलम् अर्गलं न विचारयन्ति। कथंभूतम् अर्गलम् ? रचित-मुक्तिपुरप्रवेशव्याषेधं रचितो विहितो मुक्तिनगरप्रवेशस्य व्याषेधो निषेधो येन स तं रचित०, गलम् अर्गलं स्विच्छम्। सारम् अराऽर्शब्देन सह वर्त्तते यः स सार—स्तं सारम् अर्सहितो गलः अर्गलः स्यादित्यर्थः ॥ १५ ॥

अर्थ—मूर्ख व्यक्ति कमलनयनो तरुणियों को जीवन का सार मानकर मन में हर्षित होते हैं। खेद है कि (वे) मोक्ष नगर में प्रवेश का निषेध करने वाले के द्वारा रचित उस अर्गल अर्थात् साँकल का किञ्चिद् भी विचार नहीं करते ॥ १५ ॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत स्थल में कवि संकेत करता है कि हे संयती ! यदि कहीं तुम ऐसा समझते हो कि सुन्दर तरुणियाँ ही संसार में सर्वश्रेष्ठ भोग्या हैं तो तुम्हारी भूल है, क्योंकि वे तो मोक्षनगर के दरवाजे में प्रवेश वर्जित करने वाली मजबूत अर्गला हैं। अतः वे संयती के लिए सर्वथा त्याज्य हैं।

अलं प्राप्य स्पर्शं कुचकलशयोः पंकजदृशां
परां प्रीतिं भ्रातः कलयसि सुधामग्न इव किम् ।।
अवस्कंदं धर्मक्षितिपकटके दातुमनसा
प्रयुक्तं जानीयाः कलुषवरटेन स्पर्शमिमम् ।।१६।।

पंकजदृशां कमलनयनानां स्त्रीणां कुचकलशयोः स्तनयोः अलम् अत्यर्थं स्पर्शं प्राप्य हेभ्रात किं परामुत्कृष्टां प्रीतिं कलयसि प्राप्नोषि । क इव ? सुधामग्न इव कृतमज्जन इव । इमं स्पर्शं कलुषवरटेन कलुषं पापं तदेव वरटो भिल्लस्तेन प्रयुक्तं प्रेरितं स्पर्शं हेरिकं त्वं जानीयाः । कथंभूतेन कलुषवरटेन ? धर्मक्षितिपकटके धर्म्म एव क्षितिपो राजा तस्य कटके सैन्ये । अवस्कंदं प्रहरणं दातुमनसा प्रहरणं कर्त्तुमनसेत्यर्थः स्पर्शं स्पर्शं कथमिति । अलं रलयोश्चैकत्वस्मरणाद् अरं नास्ति रो रेफो यत्र तम् अरम् । रेफरहितस्पर्शं स्पर्शं स्यादित्यर्थः ।।१६।।

अर्थ—हे बन्धु ! कमलनयनी कामिनी के स्तनयुगलों का यथेच्छ स्पर्श प्राप्त कर आकण्ठ अमृत पान किये हुए (व्यक्ति) की भाँति क्यों अत्यधिक हर्षित होते हो ? इन स्तन कलशों जिन्हें तुम अमृत कलश के समान समझते हो, को वस्तुतः धर्मरूपी राजा की सेना पर प्रहार की इच्छावाले पापरूपी शिकारी के द्वारा प्रयुक्त गुप्तचर जानो ।।१६।।

विशेषार्थ—यहाँ कवि संकेत करता है कि धर्माचारी को यौवना के स्तन-द्वय के स्पर्श को जीवन का उद्देश्य नहीं बना लेना चाहिए। क्योंकि इन्द्रियों की पराधीनता में पथ भ्रष्ट होने का महान् भय है। कवि ने इस विषय में धर्म को राजा की सेना और कुचद्वय को पापरूपी शत्रु के गुप्तचर का रूप बताया है।

पीनोन्नतं स्तनतटं मृगलोचनाया
आलोकसे नरहितं यदपूर्वमेतत् ।।
मोहान्धकार-निकरक्षयकारणस्य
विद्यास्तदस्ततटमेव विवेकभानोः ।।१७।।

यत् मृगलोचनायाः हरिणाक्ष्याः स्त्रियाः एतत् स्तनतटं कुचद्वंद्वं पीनोन्नतं पीनं च तदुन्नतं च पीनोन्नतं पुनः नरहितं नरेभ्यो हितं पुनः अपूर्वं प्रतिक्षणं चमत्कारहेतुत्वात् । त्वम् आलोकसे पश्यसि तत्स्तनतटम् । विवेकभानोः विवेक-सूर्य्यस्य अस्ततटं त्वं विद्याः । अत्र ज्ञानसूर्य्योऽस्ततामेष्यतीत्यर्थः । कथंभूतस्य विवेकभानोः ? मोहांधकारनिकरक्षयकारणस्य मोह एवांधकारस्तस्य यो निकरः समूहः यस्य क्षयकारणं तस्य मोहांध० । स्तनतटमिति विशेषणद्वयेन अस्ततटं साधयति नरहितं नेन नकारेण रहितं पुनः । अपूर्वम् अः अकारः पूर्वो यस्य तद् अपूर्वम् । एतादृशं स्तनतटम् अस्ततटं स्यादेवेत्यर्थः ।।१७।।

अर्थ--(हे बन्धु !) मृगनयनी युवती के जिस विशाल एवं उन्नत स्तनतट को विलक्षण रूप से मानव हितकारी समझते हो, उसे मोहरूपी अन्धकार समूह को क्षय करने वाले विवेक रूपी सूर्य का अस्ताञ्चल ही जानो ।।१७।।

विशेषार्थ--प्रस्तुत स्थल में कवि मृगलोचना के स्तनतट को विवेक भ्रष्टता का हेतु बताता है। अतः संयमी के लिए यह हेय है।

कंदर्प्पद्विपकुम्भचारुणि कुचद्वंद्वे मृगाक्ष्या मया
न्यस्तो हस्त इति प्रमोदमदिरामाद्यन्मना मास्मभूः ।।
किं त्वाजन्म यदर्ज्जितं बहुविधामभ्यस्य कष्ट क्रियां
हस्तोऽयं सुकृतस्य तस्य सहसाऽदायीति संचितयेः ।।१८।।

मया मृगाक्ष्याः स्त्रियाः कुचद्वंद्वे स्तनयुग्मे हस्तो न्यस्तः करः स्थापितः । कथंभूते कुचद्वंद्वे ? कंदर्पद्विपकुंभचारुणि कंदर्प एव द्विपस्तस्य कुंभो गंडस्थलं तद्वच्चारु मनोज्ञं तस्मिन् कंदर्प० इति हेतोः प्रमोदमदिरामाद्यन्मनाः प्रकृष्टो यो मोदः स एव मदिरा तया माद्यन्मनो यस्य स एतादृशस्त्वं मास्मभूः । माङि लुङिति लुङ् न माङ्योगे इत्यडागमाभावः । किंतु बहुविधानां तपोनुष्ठानादिरूपां कष्ट-क्रियां कष्टसाध्या क्रिया कष्टक्रिया तां क० । अभ्यस्य अभ्यासं कृत्वा आजन्म यदर्जितं जन्मनो मर्यादीकृत्य यत् सुकृतमर्जितं तस्य सुकृतस्य त्वया अयं हस्तो अदायि दत्तः । यथा कस्य आजिगमिषोः हस्तप्रदानं संज्ञया निषेधयति तथा हस्तदानेन सुकृतं निषिद्धम् इति त्वं संचिन्तयेः विचारयेरित्यर्थः । अत्र पद्ये हस्तो न्यस्तः सुकृतस्य हस्तोऽदायीति चित्रकृत् ।।१८।।

अर्थ--(हे बन्धु ! तुम) कामदेव के गज के गण्डस्थल के समान सुन्दर मृगनयनी के स्तनयुगल पर मेरे द्वारा हाथ रखा गया है—इस प्रकार

हर्षातिरेक रूपी मदिरा से उन्मत्त चित्तवाले मत बनो। क्या तुम यह विचार करते हो कि विभिन्न कष्ट साध्य अनुष्ठानों के अभ्यास से जीवन पर्यन्त जो तुमने पुण्य अर्जित किया है, उसे इस हस्तस्पर्श से तुमने अनायास ही नष्ट कर दिया है ॥१८॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत श्लोक में कवि संकेत करता है कि स्त्री का स्पर्श मात्र भी संयमी साधक के लिए महान् घातक है। सामान्यतया स्त्री संसर्ग, जिसे सुख कहा जाता है वस्तुतः महान् दुःख का कारण है। वह जन्म भर के सुकृत्यों को पल में नष्ट करनेवाला है।

कंठोपकंठे लुलितं विभावयेर्भुजं युवत्या भुजगं गराजितम् ॥
एतस्य संस्पर्शवशादपि क्षणादशेषचैतन्यमुपैति संक्षयम् ॥१९॥

कंठोपकंठे लुलितं कंठस्य गलस्य समीपे कंठोपकण्ठे लुलितं वलितम्। युवत्याः स्त्रिया भुजं बाहुं भुजगं सर्पत्वं विभावयेर्जानीयाः। कथंभूतं भुजगम्? गराजितं गरेण विषेण अजितो गराजितस्तम्। एतस्य भुजगस्य संस्पर्शवशात् स्पर्शमात्रेणापि अशेषं समस्तं चैतन्यं चेतनाया भावः क्षणात् संक्षयं नाशं उपैति प्राप्नोति यथा भुजगस्पर्शाच्चैतन्यं याति तथा युवत्या भुज स्पर्शादेव चैतन्यनाशः स्यादित्यर्थः। भुजं भुजगं कथं स्यादितिप्रश्ने? भुजं गराजितम्। गेन गकारेण राजितं भुजं भुजगं स्यादित्यर्थः॥ इंद्रवंशानाम छंदः ॥१९॥

अर्थ—गले में लिपटी हुई कामिनी स्त्री की भुजा को भयंकर विषवाला भुजंग समझो। इस भुजंग के स्पर्श मात्र से भी क्षण में सम्पूर्ण चेतना (विवेक) नाश को प्राप्त हो जाती है ॥१९॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत श्लोक में कवि का संकेत है कि गले में लिपटी हुई स्त्री की भुजाएँ मुक्तिगामी व्यक्ति के मार्ग में उसी प्रकार घातक हैं, जिस प्रकार भयानक विषधर सर्प। कवि का स्पष्ट कहना है कि उक्त स्थिति में युवती की भुजाओं को ही गरलपूरित सर्प समझें।

कण्ठावसक्ते कुपिते नवाहौ
वरं बहिःप्राणहरे प्रमोदः ॥
विध्वस्तधर्मान्तरजीविते नुः
स्त्रैणे न वाहौ विदुषां स युक्तः ॥२०॥

नुः पुरुषस्यनवाहौ नवश्चाऽसावहिश्च नवाहिस्तस्मिन्नवीनसर्पे कण्ठावसक्ते कण्ठस्थापिते वरं श्रेष्ठम्। कथं भूते नवाहौ ? कुपिते क्रुद्धे। पुनः कथंभूते नवाहौ ? बहिःप्राणहरे। बहिःप्राणान् हरतीति बहिःप्राणहरस्तस्मिन् बाह्यप्राण-नाशके स्त्रैणे स्त्रीणामयं स्त्रैणस्तस्मिन्। स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञाविति नञ्प्रत्यये आदिवृद्धौ णत्वे स्त्रैणशब्दसिद्धिः। बाहौ भुजे कंठावसक्ते सति यः प्रमोदो हर्षः स विदुषां पण्डितानां युक्तो न। कथंभूते बाहौ ? विध्वस्तधर्मान्तरजीविते विध्वस्तं नाशितं धर्मं एव अन्तरजीवितं येन तस्मिन्, अन्तरप्राण नाशके इत्यर्थः। अहिस्तु कंठावसक्तः सन् बहिःप्राणान्नाशयति स्त्रीणां बाहु कण्ठावसक्तः सन् अन्तरप्राणनाशं विधत्ते। अतः सर्पादप्यधिकतरदुःखदं स्त्रीकृतालिंगन-मित्यर्थः। अत्र नवाहावित्युभयत्र चित्रकृत् ॥ वबयोरभेदस्तु आलंकारिकैरिष्ट एव ॥२०॥

अर्थ—(चाहे) बाह्य-प्राण का हरण करने वाले क्रुद्ध नये सर्प के कण्ठ में लिपटने पर अत्यधिक हर्षयुक्त संगत हो, किन्तु पुरुष के धर्म रूपी अन्तरप्राण को नष्ट करनेवाली स्त्रियों की भुजाओं के आलि-गन को विद्वज्जन युक्तिसंगत नहीं मानते ॥२०॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत श्लोक में भी कवि पूर्ववत् संकेत करता है कि स्त्री का आलिंगन करना संयमी के लिए भयंकर सर्प के आलिङ्गन से भी घातक है। क्योंकि गले में लिपटा हुआ साँप केवल बाह्यप्राण का ही नाश करता है किन्तु स्त्री के बाहु तो आलिंगन करके अन्तरप्राण अर्थात् शील, धर्म एवं विवेक सबका नाश कर देते हैं। अतः वे हेय हैं।

कोऽयं विवेकस्तव यन्नतभ्रुवां
दोषावगूढः प्रमदं विगाहसे ॥
यतः स्मरातंकपरीतचेतसां
किं सुन्दरासुन्दरयोर्विवेचनम् ॥२१॥

हे साधो ! अयं तव को विवेकः यत् नतभ्रुवां नते नम्रीभूते भ्रुवौ यासां ताः नतभ्रुवस्तासां स्त्रीणां दोषा बाहुनाऽवगूढः आलिंगितः सन् त्वं प्रमदं प्रकृष्टमदं विगाहसे प्राप्नोषीत्यर्थः। यतो यस्मात् स्मरातंकपरीचेतसां स्मरः कामः स एव आतंको रोगस्तेन परीतं व्याप्तं चेतो येषां तेषां पुरुषाणां सुन्दरासुन्दरयोः समीचीनासमीचीनयोः किं विवेचनम्। अपस्मारादिरोगग्रस्तानां शुभाशुभे विवेको न भवतीति युक्तमेव ॥ पक्षे दोषैरवगूढो दोषावगूढः विवेकदोषयुक्त इत्यर्थः ॥२१॥

अर्थ—हे भ्राता ! यह तुम्हारा कैसा विवेक है, जो स्त्रियों के भुज-युगलरूपी दोषों से आलिङ्गित होने पर भी तुम अत्यधिक हर्षित हो रहे हो, (शायद) यह उचित भी है, क्योंकि कामरूपी रोग से ग्रस्त चित्त-वालों को श्रेय और अश्रेय का क्या विवेक ? अर्थात् काम पीड़ित होने पर उपादेय और हेय का विवेक नहीं रह जाता है ॥२१॥

विशेषार्थ—यहाँ कवि स्पष्ट करता है कि स्त्री आलिंगन करने से पुरुष का विवेक कुण्ठित हो जाता है। उसे हेय उपादेय का कुछ भी बोध नहीं रह जाता। अतः संयमी को इससे बचना चाहिए।

हंहो विलोक्य परमंगदमंगनाना-
मानंदमुद्वहसि किं मननांधबुद्धे ॥
सत्यं विवेकनिधनैकनिमित्तमेत-
न्मेधाविनो हि परमंगदमुद्गृणन्ति ॥२२॥

हंहो इति संबोधने हे मदनांधबुद्धे ! मदनेन कामेन अंधीभूता बुद्धिर्यस्य तस्य संबोधने। अंगनानां प्रधानमंगं यासां तासामंगनानां परमुत्कृष्टम्। अंगदं केयूरं विलोक्य दृष्ट्वा आनंदं किमुद्वहसि प्राप्नोषि। मेधाविनः पंडिता एतद् अंगदं परममुत्कृष्टं गदं रोगमुद्गृणंति प्रजल्पंति तत्सत्यं कथंभूतं गदम्। विवेकनिधनैक-निमित्तं विवेको ज्ञानं तस्य निधनस्य नाशनस्य एकमद्वितीयं निमित्तं कारणम्। गदो हि निधनैकहेतुर्भवत्येव। अत्र पद्ये उभयत्र परमंगदमितिपदं भिन्नार्थत्वा-च्चित्रकृत् ॥२२॥

अर्थ—हे काम के कारण अन्धमति वाले ! कामिनियों के श्रेष्ठ केयूर को देखकर क्यों हर्षित होते हो ? उस (केयूर) को ज्ञानी पुरुषों ने विवेक क्षय का अद्वितीय निमित्त प्रमुख तत्त्व कहा है, जो सत्य ही है ॥२२॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत श्लोक में कवि संकेत करता है कि रमणी के रतिबन्ध आदि देखना भी विवेक भ्रष्टता का कारण है। वह एक भयंकर रोग है जिससे संयमी जीवन कलंकित हो जाने का खतरा है, अतः संयमी को उसका अवलोकन नहीं करना चाहिए।

अयं जनो वलयभरं विलोकते
मृगीदृशामधिभुजवल्लि बालिशः ॥

न बुद्धयते सुकृतचमूं जिगीषतः
समुद्यतं बलभरमेनमेनसः ॥२३॥

अयं प्रत्यक्षगतो बालिशो मूर्खो जनो मृगीदृशां स्त्रीणां वलयभरं वलयानां भरस्तम् अधिभुजवल्लि भुजावेव वल्लिस्तस्यामिति अधिभुजवल्लि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः भुजलतायामित्यर्थः । विलोकते पश्यति । एनं वलयभरम् एनसः पापस्य समुद्यतं सावधानीभूतं बलभरं सेनासमूहं न बुद्धयते । कथंभूतस्य एनसः ? सुकृतचमूं सुकृतस्य शीलादेः चमूः सेना तां जिगीषतः जेतुमिच्छतः । कथं वलयभरम् ? बलभरमिति तत्रोच्यते—कथंभूतं वलयभरम् ? अयं न विद्यते यो यकारो यस्मिन् सः अयस्तमयं यकाररहितमित्यर्थः ॥ रुचिरानाम छन्दः ॥२३॥

अर्थ—यह मूढ़ पुरुष मृगनयनी की भुजारूपी लता में धारण किये गये, कङ्कण समूह को देखता है। किन्तु वह पुण्य की शीलादि रूप सेना को जीतने हेतु तत्पर पाप का सैन्य समूह है, वह यह नहीं जानता ॥२३॥

विशेषार्थ—कवि प्रस्तुत स्थल में संकेत करता है कि मनुष्य नारी के प्रति आकर्षित होकर भी वास्तविकता से अनभिज्ञ रहता है। फलस्वरूप वह अपना सब कुछ उसी पर न्योछावर कर बैठता है। जीवन के तत्त्व से वंचित रहता हुआ ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

ये दृक्पथे तव पतंति नितंबिनोनां
कान्ताः करा जडिमपल्लवनप्रवीणाः ॥
नो वेत्सि तान् किमपवर्गपुरप्रयाण-
प्रत्यूहकारणतया करकानवश्यम् ॥२४॥

तव दृक्पथे दृष्टिमार्गे नितंबिनीनां स्त्रीणां कान्ता मनोज्ञाः करा हस्ताः नितंबिनीनामिति संबन्धे बहुत्वात् करा इति बहुत्वम्। पतंति अवलोकनतां गच्छंति। कथंभूताः कराः ? जडिमपल्लवनप्रवीणाः जडिम्नः जडताया यत्पल्लवनं प्रकटीकरणं तत्र प्रवीणाः चतुराः तान् करान् अवश्यं निश्चयेन करकान् धनोपलान् किं नो वेत्सि न जानासि। कया ? अपवर्गपुरप्रयाणप्रत्यूहकारणतया अपवर्गो मोक्षः स एव पुरं नगरं तस्मिन् प्रयाणं गमनं तत्र यः प्रत्यूहो विघ्नस्तत्र यत्कारणं निदानं तस्य भावः तत्ता तया अपवर्ग० । गमनकाले करकवृष्टिः स्वेष्टसिद्धौ विघ्नकारणं प्रसिद्धमेव। उक्तं च वसंतराजशाकुने। क्षीणचंद्रतिथि दुःसहानलं दूषितं धरणि कंपनादिना। पूर्ववज्जलदसंकुलांबरं वर्ज्जयेच्छकुनदर्शने

दिनमिति। अकालवृष्टिर्गमने निषिद्धा। करकपतनं त्ववश्यं वर्ज्यमेव। करान् करकान् कथमिति प्रश्नोत्तरम्। कथंभूताः कराः? कान्ताः ककरान्ता इत्यर्थः। तादृशाः कराः करका भवंत्येवेत्यर्थः ॥२४॥

अर्थ—हे (मोक्षकामी!) तुम्हारी आँखों के समक्ष मन्दता उत्पन्न करने में निपुण युवतियों के जो मनोहर हाथ दिखाई पड़ते हैं वे निश्चित रूप से मोक्षरूपी नगरी हेतु प्रस्थान के समय विघ्नकारी ओले हैं, इसे क्यों नहीं समझता है ॥२४॥

विशेषार्थ—प्रस्थान के समय ओले पड़ना जिस प्रकार विघ्नकारी है उसी प्रकार युवतियों के हाथ का दर्शन भी मोक्षेच्छु पुरुष के लिए घातक है।

नीव्याप्तमस्या हरिणेक्षणाया
यं वीक्ष्य हारं हृदि हर्षमेषि ॥
विवेकपंकेरुहकाननस्य तमेव
नीहारमुदाहरन्ति ॥२५॥

अस्या हरिणेक्षणाया हरिणस्य ईक्षणमिवेक्षणं यस्यास्तस्याः यं हारं वीक्ष्य त्वं हृदि हृदये हर्षं प्रमोदम् एषि प्राप्नोषि। कथंभूतं हारम्? नीव्याप्तं नीवीं वसनग्रन्थिम् आप्तं प्राप्तं नीव्याप्तं नीवीपर्यन्तं लंबायमानमित्यर्थः। बुधाः तं हारमेव विवेकपंकेरुहकाननस्य विवेक एव पंकेरुहं कमलं तस्य काननं वनं तस्य नीहारं हिमं उदाहरन्ति कथयन्ति। नीहारो यथा कमलकाननस्य दाहकस्तथा यं हारं हृदि हारवर्णनं विवेकनाशकमित्यर्थः। हारं कथं नीहारमिति प्रश्ने तत्रोच्यते—कथंभूतं हारम्। नीव्याप्तं नीशब्देन व्याप्तं नीव्याप्तं एतादृशं हारं नीहारं स्यात् ॥२५॥

अर्थ—इस मृगनयनी के कमरबन्द तक व्याप्त जिस हार को देखकर तुम हृदय में आनन्दित होते हो। उसको ज्ञानी पुरुष विवेकरूपी कमलकानन का (नाशक) हिम कहते हैं ॥२५॥

विशेषार्थ—कवि प्रस्तुत स्थल में संकेत करता है कि स्त्री की नाभि के नीचे तक लटकता हुआ गले का हार जिसे आनन्द का हेतु माना जाता है वस्तुतः वह हार नहीं है अपितु वह विवेकरूपी कमल दलों का (नाशक) निहार अर्थात् हिम है। जिस प्रकार कमलसरोवर में हिम कमलदलों का नाश कर देता है ठीक उसी प्रकार मृगनयनो के गले का हार संयती के विवेक को नष्ट करने में समर्थ है।

विलोक्य किं सुन्दरमंगनोदरं,
करोषि मोहं मदनज्वरातुर ।
नोईक्षसे दुर्गतिपातसंभवं,
भवान्तरे भाविनमंगनोदरम् ।।२६।।

हे मदनज्वरातुर ! मदनः कामः स एव ज्वरस्तेन आतुरस्तस्य संबोधनं सुन्दरं दर्शनार्हम् अंगनोदरम् अंगनाया उदरं विलोक्य त्वं किं मोहं करोषि । अंगेत्यामंत्रणे । भवांतरे आगामि भवे भाविनं भवनशीलं दरं भयं किं नो ईक्षसे न विचारयसि ? कथंभूतं दरम् ? दुर्गतिपातसंभवं दुर्गतिर्नरकादिस्तस्यां यः पातः पतनं तस्मिन् संभव उत्पत्तिर्यस्य तम् । अत्र पूर्वम् अंगनोदरमिति समस्तं पदम् । परत्र अंग नो दरमिति पदविभागेनार्थव्युत्पादनं चित्रम् ।।२६।।

अर्थ--हे कामज्वर से पीड़ित ! सुन्दरी के उदर को देखकर क्यों मोहित होते हो ? यह आगामी भव में दुर्गति का कारण बनेगा—इस भय का क्यों नहीं विचार करते हो ? ।।२६।।

विशेषार्थ—कवि सुन्दरी के उदर प्रदेश को भवभ्रमण का कारण बताते हुए कामी पुरुषों को सचेष्ट करता है कि वस्तुतः वे जिसे उदर समझते हैं, वह उकार से रहित दर अर्थात् (भय) है ।

स्फूर्जन्मनोभवभुजंगमपाशनाभि,
नाभी कुरंगकदृशां दृशि यस्य लग्ना ।
नाभीमयं जगदशेषमुदीक्षसेऽसौ,
यो यत्र रज्यति स तन्मयमेव पश्येत् ।।२७।।

यस्य पुरुषस्य दृशि नेत्रे, कुरंगकदृशां मृगनेत्राणां स्त्रीणां नाभी शरीरावयवविशेषः लग्ना । कथंभूता नाभी ? स्फूर्जन्मनोभवभुजंगमपाशनाभी स्फूर्जन् देदीप्यमानो यो मनोभवः कामः स एव भुजंगमः सर्पस्तस्य पाशार्थं नाभी । कामसर्पस्थानमित्यर्थः । असौ पुमानशेषं समस्तं जगत् नाभीयम् अभीमयं निर्भयं न ईक्षते । न निर्भयं जगदीक्षत इत्यर्थः । यः पुरुषः यत्र स्थाने रज्यति स पुमान् तन्मयं तद्रूपमेव पश्यति । नाभी दृशि लग्ना नाभीमयं जगत्पश्यतीति न चित्रम् । नाभीनाभीमयमिति चित्रकृत् ।।२७।।

अर्थ—जिसकी दृष्टि मृगनयनियों के देदीप्यमान कामदेवरूपी भुजंग के पाश (बन्धन) रूपी नाभि में लीन है वह समस्त जगत् को

नाभिमय ही देखता है अर्थात् भयरहित नहीं देखता है। क्योंकि जो व्यक्ति जिसमें आसक्त रहता है उसको वह वैसा ही दिखाई पड़ता है ॥२७॥

विशेषार्थ—कवि संकेत करता है कि काम के वशीभूत जोव स्त्रो के प्रति आसक्त होने पर इतना विवेकहीन हो जाता है कि उसे समस्त संसार ही काममय प्रतीत होता है। वह उसके भयंकर परिणामों का तनिक भो विचार नहीं कर पाता है।

जडोपयुक्तं जघनं मृगाक्ष्याः,
समीक्ष्य किं तोषभरं तनोषि ।
अमुं विशुद्धाध्यवसायहं-
सप्रवासहेतुं घनमेव विद्याः ॥२८॥

मृगाक्ष्या स्त्रियाः जघनं समीक्ष्य दृष्ट्वा किं तोषभरं हर्षभरं तनोषि विस्तारयसि कथंभूतं जघनम् ? जडोपयुक्तं जमानां मूर्खाणाम् उपयुक्तं योग्यम् अमुं जघनं घनं मेघमेव विद्या जानीयाः। कथंभूतं जघनम् ? विशुद्धाध्यवसायहंस-प्रवास—हेतुं विशुद्धो निर्मलो यो अध्यवसायः चित्ताभिप्रायः स एव हंसः तस्य यः प्रवासः तस्य हेतुः कारणं तं विशुद्धा०। घनागमे हंसा मानसे गच्छंतीति प्रसिद्धम्। जघनं घनं कथं तत्राह। जडोपयुक्तं मलयोश्चैकत्वस्मरणाद् जलोपयुक्तम्। जस्य जकारस्य लोपो नाशस्तेन युक्तं जकारं विना जघनं घनं स्यात् ॥२८॥

अर्थ—मूर्ख लोगों के दर्शन के उपयुक्त, मृगनयनियों के जघन प्रदेश को देखकर क्यों हर्षित होते हो ? मूर्खों के दर्शनोपयुक्त इस जघन को निर्मल चित्त रूपो हंस के प्रवास का हेतु घन (बादल) ही समझो ॥२८॥

विशेषार्थ—कवि प्रस्तुत स्थल में संकेत करता है कि स्त्री के जघन प्रदेश को देखना भी संयती के लिए उसी प्रकार घातक है जिस प्रकार घन (बादल) हंस के प्रवास में बाधक बनकर दुःख के कारण होते हैं।

नितंबमुल्लासिततापनोदं,
दिदृक्षसे यत्कमलेक्षणानाम् ।
सर्वात्मनात्यन्तकटुं विदित्वा,
तं निंबमेव त्यज दूरतोऽपि ॥२९॥

कमलेक्षणानां कमलनयनानां यं नितंबं पृष्ठभागं दिदृक्षसे द्रष्टुमिच्छसि ॥ कथंभूतं नितंबम् उल्लासिततापनोदम् उल्लासितस्तापस्य नोदः प्रेरणं येन सः तम् । तं नितंबं निंबमेव रिष्टं विदित्वा दूरतोऽपि त्यज । कथभूंतं निंबम् ? सर्वात्मना पत्रफलपुष्पसमूहेन । अत्यंतकटुम् अतिकटुकम् । नितंबं कथं निंबमिति प्रश्ने तत्रोच्यते कथंभूतं निंबम् उल्लासिततापनोदम् । उल्लसितस्तस्य तकाराक्षरस्य अपनोदो नाशो यस्मिन् स तम् । तकारनाशे नितंबो निंबः स्यादेवेत्यर्थः ॥२९॥

अर्थ—तुम दुःख को उद्दीप्त करने वाले कमलनयनियों के नितम्ब-भाग को देखने की आकांक्षा करते हो, उसको सब तरह से निम्ब के समान अत्यन्त कटु जानकर दूर से ही उसका त्याग कर दो ॥२९॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत श्लोक में कवि संकेत करता है—हे संयती ! नायिका के उस नितम्ब-भाग को उसी प्रकार दुस्वादपूर्ण समझो जिस प्रकार निम्ब का वृक्ष । निम्ब का वृक्ष त्वचा, फल, फूल, पत्ती तथा जड़ समेत कड़वा होता है, उसी प्रकार नायिका का नितम्ब-भाग भी सेवन से जीवन के समस्त पुण्यरूपी आस्वाद को पापरूपी आस्वाद में बदलकर दुःस्वाद ही देता है ।

उसको देखने से कामविकार, सेवन से चरित्ररूपी रत्न की हानि, धर्म का नाश और पुण्य क्षीण हो जाता है । अतः संयती के लिए त्याज्य ही है ।

नूनं नूपुरमेतदायतदृशो रागादिविद्वेषिणां,
क्रीडार्थं पुरमित्यवेत्य न दृशाप्यालोकनीयं क्वचित् ॥
येनास्मिन्मुखमात्रचंगिमगुणैराकृष्य तैरुल्वणै-
र्बद्धस्य प्रसभं चिरादपि सखे मुक्तिर्भवित्री न ते ॥३०॥

नूनं निश्चितम् आयतदृशः आयते विस्तीर्णे दृशौ यस्यास्तस्या विशालनयनायाः एतन्नूपुरं चरणभूषणं रागादिविद्वेषिणां रागादिशत्रूणां क्रीडार्थं विनोदार्थं पुरं नगरमिति अवेत्य ज्ञात्वा त्वया क्वचित्कदापि दृशा नेत्रेण नालोकनीयं न द्रष्टव्यम् । शत्रुपुरं श्रेयोऽर्थिना पुरुषेण न विलोकनीयमित्यर्थः । हे सखे येन नूपुरेण अस्मिन्पुरे तैः प्रसिद्धैः मुखमात्रचंगिमगुणैः, मुखमात्रे ये चंगिमाः श्रेष्ठाः गुणास्तैरुल्बणैरुदारैराकृष्य प्रसभं बलात्कारेण बद्धस्य ते तव चिरादपि चिरकालेनापि मुक्तिर्मोचनं न भवित्री । नूपुरं पुरं कथमिति प्रश्ने—तत्र कथंभूतं नूपुरं ? नूनं नूशब्देन ऊनं नूनं नूशब्दरहितं नूपुरं पुरं भवतीति ॥ ३० ॥

अर्थ—निश्चय ही विशाल नेत्रों वाली कामिनियों के नूपुर, रागादि शत्रुओं के नगर हैं, यह समझकर नेत्रों से उन्हें किञ्चित् भी न देखो ॥ ३० ॥

विशेषार्थ—कवि संकेत करता है कि नायिका के नूपुर जिससे ये मनोहारी ध्वनियां सुनाई पड़ती हैं, वस्तुतः वह पुर है जिसमें रागादि शत्रु क्रीडा करते रहते हैं। अतः उस पुर की तरफ देखना भी मोक्षमार्ग में बाधक है। उसे देखने से रागादि शत्रुओं का साहचर्य होने से निश्चित ही भवभ्रमण का कारण उपस्थित होता है।

या स्त्रीति नाम्ना बिभृते शमादौ
शस्त्री प्रबुद्धैरवबुद्धचता सा ॥
एनां पुरस्कृत्य जगत्यनंग
भटो यतः पुण्यभटं भिनत्ति ॥ ३१ ॥

या स्त्रीतिनाम्ना स्त्रीत्यभिधानेन बिभृते धारयति सा स्त्री प्रबुद्धैर्ज्ञानिभिः शमादावुपशमादिकर्मणिशस्त्री। अमुक्तायुधम् अमुक्तं शस्त्रीप्रमुखमिति। क्षुरी शस्त्री कृपाणिकेति नामकोशः। अवबुध्यतां ज्ञायताम्। यतो यस्माद् अनंगभटः कामसुभटः जगति संसार एनां स्त्री रूपां शस्त्रीं पुरस्कृत्य अग्रे कृत्वा पुण्यभटं धर्मसुभटं भिनत्ति भेदनं करोति। सुभटेन प्रतिसुभटं शस्त्र्या भेदनं विधीयत एव। स्त्रीति शस्त्री कथं तत्रोच्यते—शमादौ या स्त्री शं शकारमादौ बिभृते तदा स्त्री शस्त्री स्यादेवेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो स्त्री नाम धारण करती है अर्थात् जो स्त्री नाम से जानी जाती है वह बुद्धिमानों द्वारा शम आदि कर्म में शस्त्री (छुरी) कही गयी है. ऐसा जानो। कामरूपी वीर जिसे (स्त्री रूपी शस्त्री को) आगे कर पुण्यरूपी वीर को मारता है ॥ ३१ ॥

विशेषार्थ—कवि का संकेत है कि जिसे हम स्त्री जानते हैं वस्तुतः वह स्त्री नहीं बल्कि शस्त्री है, अर्थात् कामदेव का हथियार है। इसी के द्वारा कामदेव संयतियों के पुण्य को समाप्त करने में सफल होता है। अतः संयती का सदैव इन स्त्रियों से दूर रहना ही श्रेयस्कर है।

येयं वधूरवसिता हृदये प्रमोद-
संपादनव्यतिकरैकनिबन्धनं ते ॥
सा दुर्गदुर्गतिपथेन जगन्निनीषो-
र्धूरेव मन्मथरथस्य विभावनीया ॥ ३२ ॥

या इयं वधूः ते तव हृदये प्रमोद—संपादनव्यतिकरैकनिबंधनम् । हृदये यः प्रमोदस्तस्य संपादनमुत्पादनं तस्य यो व्यतिकरः समूहः तस्य निबंधनं कारणम् अवसिता प्राप्ता हृदयहर्षोत्पादनकारणं वधूरिति त्वया मन्यत इत्यर्थः । सा वधूः मन्मथरथस्य धूरेव युगमेव विभावनीया ज्ञातव्या । कथंभूतस्य मन्मथरथस्य ? जगत्कर्मतापन्नं दुर्गदुर्गतिपथेन दुर्गतेर्नरकादिगतेः पंथाः दुर्गतिपथः । ऋक्पूरब्धूः पथामानक्ष इति अप्रत्ययः दुर्गो यो दुर्गतिपथस्तेन । निनीषोर्नेतुमिच्छोः दुर्गतिमार्गेण संसारे नेतुमिच्छतः कामरथस्य धूरस्ति न वधूरित्यर्थः । वधूः धूः कथं तत्रोच्यते वेन वकारेण सिता बद्धा वसिता न वसिता अवसिता वकाररहिता वधूर्धूरेव स्यादित्यर्थः ।। ३२ ।।

अर्थ—वधू आनन्द उत्पन्न करने वाले कारणों का समूह है यह बात तुम्हारे हृदय में अवस्थित है, (किन्तु) वह (वधू) संसार को दुर्गति-मार्ग से ले जाने वाले कामदेव के रथ की धुरी ही है ।। ३२ ।।

विशेषार्थ—प्रस्तुत श्लोक में कवि कहता है कि जिस वधू को सुख का हेतु समझा जाता है वस्तुतः वह (वकार से रहित) धूः (धुरी) है जो कामदेव के रथ में लगी रहती है । आत्म कल्याण के इच्छुकों के लिए ये वधुएँ हेय हैं ।

प्रीतिं तन्वंत्यनलसदृशो यास्तरुण्यस्तवैता
देहद्युत्या कनकनिभया द्योतिताशा विवेकिन् ।।
सत्यं तासामनलसदृशां संयमारामराज्यं
मा भूः पार्श्वेऽप्यसि यदि शिवावाप्तये बद्धबुद्धिः ।।३३।।

हे विवेकिन् या एतास्तरुण्यो नार्यः तव प्रीतिं हर्षं तन्वन्ति विस्तारयन्ति । कथंभूतास्तरुण्यः अनलसदृशः न अलसा नलसा आलस्यरहिता दृशो यासां ता अनलसदृश उन्निद्रनेत्रा इत्यर्थः । पुनः किंविशिष्टास्तरुण्यः कनकनिभया स्वर्णतुल्यया देहद्युत्या शरीरकांत्या द्योतिताः प्रकाशिता आशा दिशो याभिस्ता द्योतिताशाः । संयमारामराज्यं संयमश्चारित्रं स एव आरामस्तस्य राज्यं परंपरा तस्या विषये तासां स्त्रीणाम् अनलसदृशाम् अग्नितुल्यानाम् । सत्यं स्त्रीसंपर्काच्चारित्रवनदाहो भवत्येवेत्यर्थः । यदि त्वं शिवावाप्तये । मोक्षप्राप्त्यै बद्धबुद्धिः बद्धा बुद्धिर्येन स तादृशोऽसि तदा तासां पार्श्वेऽपि समीपेऽपि मा भूः । अत्र पद्ये अनलसदृशत्वम् एकत्र वर्णत्वेन अपरत्र दाहकशक्तित्वेनोपादानं चित्रकृत् ।। ३३ ।।

अर्थ—हे विवेकशील ! जो ये चञ्चल नेत्रों वाली तरुणियाँ तुम्हारी प्रीति का विस्तार करती हैं, (और) जो स्वर्ण के समान शरीरकान्ति से दिशाओं को द्योतित करती हैं, यदि मुक्ति के लिए बुद्धिपूर्वक तत्पर हुए हो तो संयमरूपी उपवन में अग्नि के सदृश उन तरुणियों को समीप मत होने दो ॥ ३३ ॥

विशेषार्थ—कवि संकेत करता है कि संयती के लिए सुन्दरी तरुणी उसी प्रकार घातिका है, जिस प्रकार अनल उपवन के लिए घातक होता है । अतः वह संयती के लिए हेय है ।

क इह विषयभोगं पुण्यकर्मायशून्यं
स्पृहयति विषभोगं भावयेस्तत्त्वतस्त्वम् ॥
स्मरति न करणीयं मूर्च्छितो येन जन्तुः
पतति कुगतिगर्त्ते नेक्षते मोक्षमार्गम् ॥ ३४ ॥

इहास्मिन् संसारे कः पुरुषो विषयभोगं पंचेंद्रियसुखं स्पृहयति वांछति । कथंभूतम्—वि० पुण्यकर्मायशून्यं पुण्यकर्मणः आयो लाभस्तेन शून्यम् । तत्त्वतस्त्वं विषभोगं भावयेः जानीहि । विषयभोगं विषभक्षणतुल्यं जानीहीत्यर्थः । तदेव स्पष्टयति येन विषयभोगेन मूर्च्छितो मोहं प्राप्तो जन्तुः प्राणी करणीयं करणार्हं न स्मरति, पुनः मोक्षमार्गं न ईक्षते । कुगतिगर्त्ते पतति । विषभक्षकस्य स्मरणादि भ्रंशकत्वं प्रकटमेव विषभोगो भवतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

अर्थ—इस संसार में कौन पुण्यकर्म से रहित व्यक्ति विषयभोग की ईप्सा करता है, तत्त्वतः तुम उसे ही विषभोग समझो, जिससे मूर्च्छित हुआ जीव अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है, दुर्गति रूपी गर्त में पड़ता है (और उसे) मुक्तिमार्ग दिखाई नहीं पड़ता है ॥ ३४ ॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत श्लोक में कवि ने विषयभोग को विषभोग की संज्ञा देते हुए, उसकी हानियों को समझाते हुए संयती को उससे बचने का निर्देश दिया गया है ।

सखे सुखं वैषयिकं यदेत
दाभासते तन्नरकान्तमन्तः ॥
सत्यं तदुत्सर्प्पदघप्रबंध-
निबन्धनत्वान्नरकान्तमेव ॥ ३५ ॥

हे सखे हेनर एतद् वैषयिकं विषयेभ्यो भवं वैषयिकं सुखं ते तव अन्तः चेतसि कान्तं मनोज्ञं यद् आभासते तत्सत्यं मिथ्या नेत्यर्थः। उत्सर्प्पदघप्रबंधनिबंधनत्वात्। उत्सर्पन्प्रसर्प्पन् यः अघस्य पापस्य प्रबंधः परंपरा तस्य निबंधनं कारणं तस्य भावस्तत्त्वं तस्मान्नरकान्तमेव नरक एव अन्तो यस्य तत् नरकान्तं नरकप्रापकमित्यर्थः। अत्र पद्ये पूर्वत्र नरकान्तमिति भिन्नं पदं परत्र नरकान्तमिति समस्तं पदमिति चित्रकृत् ॥ ३५ ॥

अर्थ—हे मित्र! यह सत्य है कि जो विषय (भोग) सम्बन्धी सुख तेरे हृदय को आनन्ददायक प्रतीत हो रहा है वह पाप परम्परा को बढ़ाने का कारण होने से उसका अन्त नरक ही है ॥ ३५ ॥

विशेषार्थ—कवि प्रस्तुत श्लोक में विषय सुख को क्षणिक सुख स्वीकारते हुए नरकगमन का कारण सिद्ध करता है, और यह बताता है कि मोक्षाभिलाषी को ऐसे विषय सुख को हेय समझना चाहिए, क्योंकि वह विपरीत मार्ग है।

स्मरक्रीडावाप्यां वदनकमले पक्ष्मलदृशां
दृढासक्तिर्येषामधरमधुपानं विदधताम्।
अदूरस्था बन्धव्यसनघटना क्लेशमहती-
विमुग्धानां तेषामिह मधुकराणामिव नृणाम् ॥३६॥

स्मरक्रीडावाप्यां स्मरक्रीडार्थं वापी तस्यां येषां मनुष्याणां पक्ष्मलदृशां स्त्रीणां वदनकमले वदनमेव कमलं तत्र दृढासक्तिः दृढा आसक्तिः तन्मयता वर्त्तते इति शेषः। किं कुर्वतां येषाम्? अधरमधुपानं विदधतां अधरमेव मधु पुष्परसः तस्य पानं तत् कुर्वताम्, तेषां नृणाम् इह वदनकमले मधुकराणां भ्रमराणामिव बंधव्यसनघटना बंधेन बंधनेन यद्व्यसनं कष्टं तस्य घटना रचना अदूरस्था समीपवर्त्तिनी भवति। कथंभूतानां मधुकराणाम्? नृणां च विमुग्धानां मोहदशां प्राप्तानाम्। कथं० बन्धव्य०? क्लेशमहती क्लेशेन महती दुःसहा। यथा भ्रमराणां कमले मधुपानं कुर्वतां दृढासक्तिबंधनकष्टदायिनी तथा नृणां स्त्रीमुखकमले अधररसपानं कुर्वतां वधबंधनादिकष्टं भवतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

अर्थ—अधररूपी मधु का पान करते हुए जिनकी काम क्रीडा रूपी सरोवर में (विकसित) स्त्रियों के मुखरूपी कमल में दृढ़ आसक्ति है उन मोहग्रस्त मनुष्यों का भ्रमरों की मधु में आसक्ति के सदृश (नारी में) आसक्ति दुःसह्य क्लेशदायिनी होती है ॥ ३६ ॥

विशेषार्थ——कवि स्त्रीविषयसुख में निमग्नता की भयंकरता को व्याख्यायित करते हुए संकेत करता है कि ऐसे विषयी पुरुष की दशा ठीक वैसी ही होती है जैसे मधुप की होती है। यह बात प्रसिद्ध ही है कि मधुप कमल की पंखुड़ियों में मधु पीने में इतना निमग्न होता है कि उसे रात-दिन का कुछ पता नहीं चल पाता। फलस्वरूप सायं कमल पंखुड़ियाँ बन्द होते ही वह भी उसमें बन्द हो जाता है और कोई हस्ती कमलनाल को तोड़कर खण्ड-खण्ड कर देता है और साथ ही भ्रमर का जीवन भी समाप्त हो जाता है।

सखे सन्तोषाम्भः पिब चपलतामुत्सृज निजां,
शमारामे कामं विरचय रुचिं चित्तहरिण।
हरन्त्येतास्तृष्णां न युवतिनितम्बस्थलभुवो,
विमुक्ता नीरागैर्विषमशरसम्पातविषमाः ॥३७॥

हेसखे हेचित्तहरिण चित्तमेव हरिणो मृगस्तस्य संबोधनम्। चित्तस्य चांचल्यान्मृगसादृश्यम्। त्वं संतोषांभः पिब सन्तोष एव अम्भो जलं त्वं पिब। निजां स्वकीयां चपलतां चापल्यमुत्सृज त्यज काममत्यर्थं शमारामे शम एव आरामस्तस्मिन् उपशमवने रुचिं तुष्टिं विरचय कुरु। मृगस्य वनेऽधिकरुचित्वाद् इष्टोपदेश एता युवतिनितम्बस्थलभुवः। युवतीनां नितम्बाः पृष्ठभागाः त एव स्थलभूमयः तव तृष्णां तृषां न हरन्ति न दूरीकुर्वन्ति स्थलभुवं दृष्ट्वा तृष्णापहारो न भवतीत्यर्थः। कथंभूता युवति॰ नीरागैर्विमुक्ताः नीराणि च अगाश्च नीरागास्तैः जलवृक्षैर्विमुक्ताः। जलेन वृक्षच्छायया च तृषाहानिर्भवति। पुनः कथंभूता युवतिनितं॰ ? विषमशरसंपात विषमाः। विषमा असह्या ये शरसम्पाता बाणपातास्तैर्विषमा दुष्टा अस्या भुवि व्याधादिभिर्बाणपातो विधीयते तेन तव मरणं भविष्यति न तु तृष्णाहानिरित्यर्थः। पक्षे कथंभूता युवति ? नीरागैः रागरहितैर्विमुक्तास्त्यक्ताः। विषमशरः कामस्तस्य संपातेन विषमा अमनोज्ञाः। एतेन युवतिनितम्बवांछां मा कुरु इति चित्तं प्रत्युपदेशः ॥ ३७ ॥

अर्थ—हे चित्तरूपी मृग सखे ! सन्तोषरूपी जल का पान करो, अपना चापल्य छोड़ो, शान्तिरूपी उपवन में चिरमग्न रहो, कामिनियों की नितम्ब प्रदेश रूपी भूमियाँ रागरूपी जल और वृक्ष से रहित होने के कारण कामरूपी पिपासा शान्त नहीं करेंगी अपितु कामदेवरूपी बधिक के बाणों से दुःसह दुःख उत्पन्न करेंगी ॥ ३७ ॥

विशेषार्थ—कवि ने प्रस्तुत श्लोक में मनुष्यचित्त की चंचलता को हिरण की और युवतिनितम्बों को कामदेव के बाण के गिरने के स्थान की उपमा दी है। आगे बताया है कि युवतिनितम्बों में सुख की कामना मृगमरीचिका की कामना करना ही है।

चेतश्चापल्यमाकलय्य कुटिलाकारां कुरंगीदृशो,
दृष्ट्वा कुन्तलराजिमंजनघनश्यामां किमुत्ताम्यसि।
धर्मध्यानमहानिधानमधुना स्वीकर्तुकामस्य मे,
प्रत्यूहार्थमुपस्थितेयमुरगश्रेणीति संचिन्तयेः ॥३८॥

हे चेतस्त्वं कुरंगीदृशो मृगाक्ष्याः। कुन्तलराजिं शिरोरुहश्रेणिं दृष्ट्वा चापल्यमाकलय्य चाञ्चल्यं गृहीत्वा किमुत्ताम्यसि किम् आकुलतां करोषि। कथंभूतां कुन्तलराजिम्? कुटिलाकारां कुटिलो वक्र आकारो यस्यास्ताम्। पुनः कथंभूतां कुं०? अञ्जनघनश्यामाम् अंजनं कज्जलं घनो मेघस्तद्वत् श्यामां कृष्णाम्। केशानां कृष्णत्वं यौवने तद्युक्तां स्त्रियं दृष्ट्वा चित्तचलनं न्याय्यम्। उक्तं च—पुष्पं दृष्ट्वा फलं दृष्ट्वा दृष्ट्वा च नवयौवनाम्, द्रविणं पतितं दृष्ट्वा कस्य नो चलते मनः ॥ १ ॥ इति मे मम प्रत्यूहार्थं विघ्नार्थम् अधुना इदानीम् उपस्थिता प्राप्ता इयम् उरगश्रेणी सर्प्पपरंपरा इति त्वं संचितयेः जानीयाः। कथंभूतस्य मे? धर्मध्यानमहानिधानं स्वीकर्तुकामस्य अङ्गीकुर्वतः धर्मध्यानं धर्मचिन्तनं तदेव महानिधानम्। यत्किञ्चित्कार्यकरणोद्यतस्य सर्पदर्शनं निषिद्धम्। निधानस्वीकारे तु सर्पदर्शनमतीव नेष्टमित्यर्थः। कुन्तलस्य सर्पोपमानत्वं कविसंमतमेव ॥ ३८ ॥

अर्थ—हे चित्त! नवयुवतियों की काले मेघ के समान श्याम, वक्र आकार वाली केशराशि को देखकर चित्त में चञ्चलता धारण कर क्यों उतावले होते हो? इस समय ऐसा विचार करो कि धर्म-ध्यान रूपी महानिधि को स्वीकार करने की इच्छावाले मेरे समक्ष विघ्न हेतु यह सर्प-श्रेणी उपस्थित हुई है ॥ ३८ ॥

यातुं यद्यनुरुच्यते शिवपुरीं रामानितम्बस्थलीं
मुञ्चेर्दूरमिमामनंगकलभक्रीडाविहारोचिताम्।
नो चेद्यौवनचण्डवातविततव्यामोहधूलीकण-
क्लाम्यद्दृष्टिरदृष्टशाश्वतपथः प्राप्नोषि जन्माटवीम् ॥३९॥

हे पुमन् यदि तुभ्यं शिवपुरीं मुक्तिनगरीं यातुं गन्तुम् अनुरुच्यते तदा त्वम् इमां रामानितम्बस्थलीं स्त्रीनितम्बभूमिं दूरं दूरतो मुञ्चेः। कथंभू० रामानितं०

अनङ्गकलभक्रीडाविहारोचिताम्, अनङ्गः कामः स एव कलभः गजशिशुः तस्य क्रीडार्थं विहारो विहरणं तत्रोचितां योग्याम् चेदिमां दूरं न मुञ्चसि तदा किं भविष्यति तदाह—नोचेदिति त्वं जन्माटवीं संसाराटवीं प्राप्नोषि। कथंभूतः त्वं ? यौवनचण्डवातविततव्यामोहधूलीकणक्लाम्यद्दृष्टिः यौवनमेव चण्डवातस्तेन विततः विस्तारितः व्यामोहो वैचित्र्यं स एव धूलिकणस्तेन क्लाम्यन्ती व्याकुला दृष्टिर्यस्य तथाविधः। अत एव अदृष्टशाश्वतपथः, न दृष्टः शाश्वतस्य शिवस्य पन्था मार्गो येन सः रजःकणपतनं दृष्ट्वा मार्गावलोकनं न भवत्येवेत्यर्थः ॥३९॥

अर्थ—हे मनुष्य ! यदि तुम्हें मोक्ष रूपी नगरी में जाना अभीष्ट है, तो कामरूपी गजशावक के आमोद-प्रमोद योग्य नितम्ब-प्रदेश रूपी इस भूमि का दूर से ही परित्याग करो। यदि (परित्याग) नहीं करते हो तो यौवन रूपी प्रचण्ड वायु (के वेग) से फैली हुई चित्त-विभ्रम रूपी धूल-कणों से दृष्टि के व्याकुल होने के कारण मोक्षमार्ग अदृश्य हो जाने से जन्म-मृत्युरूपी जंगल अर्थात् संसार को प्राप्त करोगे ॥ ३९ ॥

विशेषार्थ—मोक्ष मार्ग के साधक को स्त्री के साथ काम-केलि उसी प्रकार पथभ्रष्ट कर देती है जैसे धूलकण आँख में प्रवेश करके व्यक्ति को सम्यक्पथ को देख पाने में असमर्थ बना देती है।

शमधनमुपहर्तुं कामचौरप्रचारं,
विरचयति निकामं कामिनी यामिनीयम् ।
सपदि विदधती या मोहनिद्रासमुद्रां,
जनयति जनमंतः सर्वचैतन्य शून्यम् ॥४०॥

इयं कामिनीरूपा यामिनी रात्रिः निकाममत्यन्तं कामचोरप्रचारं काम एव चौरस्तस्य प्रचारं विहरणशीलत्वं विरचयति प्रकटीकुरुते। किं कर्तुम् ? शमधन-मुपहर्तुं शम उपशम एव धनं तद्गृहीतुं यामिन्यां धनाहरणार्थं चौरप्रचारो भवति या यामिनी जनं मनुष्यम् अन्तःसर्वचैतन्यशून्यम् अन्तरिति अन्तःकरणे सर्वं च तत् चैतन्यं च तेन शून्यं रहितं जनयति करोति। यामिनी किं कुर्वती सपदि तत्कालं मोहनिद्रासमुद्रां मोहो मूर्च्छा एव निद्रा तस्याः समुद्रां समृद्धि विदधती ॥४०॥

अर्थ—शमरूपी धन का हरण करने के लिए यह रमणी रूपी रात्रि विपुल (अत्यधिक) कामरूपी चोर की विचरणशीलता प्रकट करती है। जो रात्रि मूर्च्छा रूपी निद्राधिक्य को उत्पन्न करती हुई तत्काल लोगों के अन्तःकरण को चेतना शून्य करती है ॥ ४० ॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत श्लोक में रमणी को रात्रि की उपमा दी गई है। जैसे रात्रि मनुष्य को निद्राधीन करके चोरों को चोरी करने का अवसर प्रदान करती है उसी प्रकार स्त्री मनुष्य को अपने आसक्त बनाकर शील एवं सदाचार की चोरी का अवसर प्रदान करती है।

मृगेक्षणा नूनमसावसीमा,
भीमाटवी बुद्धिमतामतीत्या।
यद्बाहुवल्लीभिरनंगभिल्लो,
बद्ध्वा नरान् लंभयते न मुक्तिम् ॥ ४१ ॥

नूनं निश्चितम् असौ मृगस्य अक्षिणीवाक्षिणी यस्याः सा मृगेक्षणा स्त्री। भीमाटवी भयानकारण्यं वर्त्तत इति शेषः। कथंभूता भीमाटवी ? असीमा न विद्यते सीमा मर्यादा यस्याः। पुनः कथंभूता ? बुद्धिमतां विदुषां अतीत्यातिक्रमणीया यद्बाहुवल्लीभिः यस्या मृगेक्षणाया बाहू एव वल्लयो लतास्ताभि अनङ्ग एव भिल्लस्तस्करः नरान् बद्ध्वा मुक्ति न लम्भयते न कारयति यथा अटव्यां तस्करः पथिकान् लताभिर्बद्ध्वा सर्व्वस्वं गृह्णाति। तथा मृगेक्षणापि कंठग्रहणं कृत्वा नरान्मुक्तिप्राप्ति न कारयतीति भावार्थः ॥ ४१ ॥

अर्थ--निश्चित रूप से यह मृगनयनी भयानक जंगल सदृश बुद्धिमानों को बुद्धि से अगम्य एवं अति गहन है, जो कामदेव रूपी तस्कर के लिए मनुष्य को अपनी भुजारूपी लताओं से बाँधकर मुक्त नहीं होने देती है ॥ ४१ ॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत श्लोक में स्त्री को उस भयानक अटवी के समान बताया गया है, जो पथिकों को तस्कर के द्वारा लुटवा देती है। स्त्री भी व्यक्ति के शील रूपी धन को उसे अपने भुजा-पाश में बाँधकर कामदेव रूपी तस्कर से लुटवा देती है।

इयं वारंवारं द्युतितुलितरोलंबवलयं,
न वक्रं भ्रूचक्रं चलयति मृगाक्षी मम पुरः।
कुधीकारागारापसरणमतिं मां स्खलयितुं,
प्रपंचत्पंचेषोर्वहति निबिडं लोहनिगडम् ॥ ४२ ॥

इयं मृगाक्षी मृगलोचना स्त्री मम पुरः पुरस्ताद् वक्रं भ्रूचक्रं वारंवारम् अनुवेलं न चलयति। कथंभूतं भ्रूचक्रम् ? द्युतितुलितरोलम्बवलयम्। द्युत्या कान्त्या तुलितः समानीकृतो रोलम्बानां भ्रमराणां वलयो वृत्तता येन। किमेत-

तदाह मां स्खलयितुं गमनाभावं कर्तुं पंचेषोः पञ्च इषवो बाणा यस्य तादृशस्य कामस्य निबिडं दुस्सहं लोहनिगडं वहति धारयति। किं लोहनिगडम् ? प्रपंचत् प्रपंचयुक्तम्। कथंभूतं माम् ? कुधीकारागारापसरणमतिं कुत्सिता धीः कुधीः सैव कारागारो बन्दिस्थानं तस्मात् पसरणे दूरगमने मतिर्यस्य तम्। यथा चौरस्य लोहनिगडं क्षिप्त्वा कारागारे क्षिप्यते तथा मामपि वशीकर्तुं भ्रूचक्रकामस्य निगडं धत्त इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

अर्थ—यह मृगलोचना युवती कान्ति के कारण भ्रमरों के वलय के समान कुटिल भ्रूचक्र को बार-बार चलाती है और कुबुद्धि रूपी कारागार से मुक्त होने की मेरी बुद्धि को निश्चेष्ट करने के लिए वह काम के पाँच प्रपंचयुक्त बाणों की भ्रूचक्र रूपी लोहे की निगठ धारण करती है ॥४२॥

यामोऽन्यत्र द्रुततरमितो मित्र यत्कण्ठपीठे,
नायं हारश्चकितहरिणीलोचनायाश्चकास्ति ।
नाभीरंध्रे विहितवसतिर्योऽस्ति कंदर्पसर्प-
स्तन्मुक्तोऽयं स्फुरति रुचिरः किंतु निर्मोकपट्टः ॥४३॥

हे मित्र वयं इतोऽस्माद् अन्यत्र द्रुततरं अतिशीघ्रं यामो गच्छामः। चकितहरिणीलोचनायाः चकिता हरिणी तस्या लोचन इव लोचने यस्यास्तस्याः। कण्ठपीठे यत् चकास्ति शोभते अयं हारो नास्ति किंतु यः कंदर्पसर्पः कंदर्प्पः कामः स एव सर्पस्तन्मुक्तस्तेन सर्प्पेण मुक्तस्तन्मुक्तः अयं रुचिरो मनोज्ञः निर्मोकपट्टः कंचुकः स्फुरति चकास्ति। कथंभूतः कंदर्प्पसर्प्पः ? नाभीरंध्रे विहितवसतिः नाभीरंध्रे नाभीकुहरे विहिता कृता वसतिर्वासो येन स ना० अयमेवान्यत्र गमने हेतुः। सर्पकंचुकदर्शनमपि भयावहम्। नाभीसर्प्पबिलं हारं सर्प्पकंचुकं तद्बुद्धया पलायनं युक्तमेवेत्यर्थः ॥ ४३ ॥

अर्थ— हे मित्र ! हम यहाँ से शीघ्र अन्यत्र चले जायँ क्योंकि चकित हरिणी के नेत्रों के समान नेत्रों वाली कामिनी के गले में यह हार नहीं शोभित हो रहा है बल्कि उसके नाभि रूपी छिद्र में अपना आवास बनाये हुए कामदेवरूपी सर्प द्वारा छोड़ा गया सुन्दर केचुल है। अभिप्राय यह है कि नाभिरूपी सर्पबिल और हार रूपी सर्प केंचुल को देखकर उससे पलायन स्वाभाविक ही है ॥ ४३ ॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार सर्प बिल और उस पर रहे हुए केंचुल को देखकर वहाँ से पलायन कर जाना ही उचित है, उसी प्रकार साधक का स्त्री से दूर रहना ही उचित है, क्योंकि स्त्री में कामदेव रूप सर्प निवास करता है।

यः कामकामलविलुप्तविवेकचक्षुः,
स्वर्गाऽपवर्गपुरमार्गमवीक्षमाणः ।
ज्ञानांजनं प्रति निरादरतामुपैति,
भ्रातः पतिष्यति सभीमभवांधकूपे ॥ ४४ ॥

यः पुरुषः ज्ञानांजनं-ज्ञानमेवांजनं प्रति निरादरतामुपैति, निरादरं करोति। कथंभूतो यः ? कामकामलविलुप्तविवेकचक्षुः, कामः स्मरः स एव कामलो नेत्ररोगस्तेन विलुप्तं विवेक एव चक्षुर्यस्य स कामकामलविलुप्त० । पुरमार्गमवीक्षमाणः स्वर्गो देवलोकोऽपवर्गो मोक्षः तावेव पुरे नगरे तयोर्मार्गस्तमवीक्षमाणः । अदर्शक एवंविधः स पुरुषः हेभ्रातः भीमभवांधकूपे भीमो भयानकः भवः संसारः स एव अंधकूपः तस्मिन् पतिष्यति यः कामलारोगग्रस्तचक्षरंजनं प्रत्यादरं न करोति सोंऽधकूपे पतत्येवेति ॥ ४४ ॥

अर्थ—हे बन्धु ! जो कामदेव रूपी नेत्र रोग के कारण विवेक रूपी आँखों से रहित स्वर्ग रूपी मोक्ष नगरी के मार्ग को न देखता हुआ ज्ञान रूपी अंजन के प्रति तिरस्कार का भाव रखता है वह इस संसार रूपी भयंकर अन्धे कूप में गिरेगा ॥ ४४ ॥

विशेषार्थ—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि ऐसा साधक जिसकी वासनाएँ निःशेष नहीं हुई हैं यदि ज्ञान का सम्पादन नहीं करेगा तो वह वासना के कूप में गिर जावेगा ।

भवारण्यं मुक्त्वा यदि जिगमिषुर्मुक्तिनगरीं,
तदानीं मा कार्षीर्विषयविषवृक्षेषु वसतिम् ।
यतश्छायाप्येषां प्रथयति महामोह-
मचिरादयं जंतुर्यस्मात्पदमपि न गंतुं प्रभवति ॥४५॥

हे पुमन् भवारण्यं संसाराटवीं मुक्त्वा यदि मुक्तिनगरीं शिवपुरीं जिगमिषुः गंतुमिच्छुरसि तदानीं विषयविषवृक्षेषु विषया एव विषवृक्षास्तेषु वसतिं रतिं त्वं मा कार्षीः मा कुर्याः । यतो यस्मात् कारणाद् एषां वृक्षाणां छायापि महामोहम् अचिरात् शीघ्रं प्रथयति विस्तारयति । विषयविषच्छायास्पर्शोपि वैचित्त्यकारको भवतीत्यर्थः । अतः कारणाद् अयं जंतुः प्राणी पदमपि पादमात्रमपि गंतुं गमनाय न प्रभवति न समर्थः भवति । यथारण्यं मुक्त्वा नगरीं गंतुकामो नरो विषवृक्षाधो वसन् मत्तो भवति तदा पदमात्रमपि न गंतुं शक्नोति । तद्वत् संसारं मुक्त्वा मुक्तिमभिलषता पुंसा विषयसेवायां मतिर्न कार्येति तात्पर्य्यम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—संसार रूपी जंगल को त्याग कर यदि मोक्ष रूपी नगरी में जाना चाहते हो तो विषय रूपी विषवृक्षों में वास मत करो, क्योंकि इन वृक्षों की छाया भी अत्यधिक मोह को उत्पन्न करती है जिससे प्राणी एक कदम भी आगे जा सकने में असमर्थ हो जाता है ॥ ४५ ॥

विशेषार्थ—मोक्ष की प्राप्ति के लिए विषय-वासना का त्याग आवश्यक है, क्योंकि विषय-वासनाओं में आसक्त व्यक्ति मोक्ष मार्ग में प्रगति नहीं कर सकता ।

सोमप्रभा चार्यमभा च यन्न,
पुंसां तमःपंकमपाकरोति ।
तदप्यमुष्मिन्नुपदेशलेशे,
निशम्यमानेऽनिशमेति नाशम् ॥ ४६
इति श्रीशतार्थवृत्तिकारश्रीसोमप्रभाचार्यविरचिता
शृंगारवैराग्यतरङ्गिणी समाप्ता ।

सोमप्रभा चंद्रकांतिः च पुनः अर्यमभा अर्यम्णः सूर्यस्य कान्तिः यत्पुंसां मनुष्याणां तमः पंकमज्ञानांधकारसमूहं न अपाकरोति न दूरीकरोति तदपि अन्तर्गतान्धकारमपि अमुष्मिन्नुपदेशेऽल्पोपदेशे निशम्यमाने श्रूयमाणे सति अनिशं निरंतरं नाशमेति नाशं प्राप्नोति । चन्द्रसूर्य्यप्रभयाऽज्ञानान्धकारं दूरीकर्त्तुं न शक्यते । अनेनोपदेशेन अन्तर्गतांधकारमपि दूरीकर्तुं शक्यत इति । अतोऽस्योत्कृष्टत्वमत्र पद्ये ग्रंथकर्ता सोमप्रभाचार्य इति स्वनाम गोपितं चातुर्येणेति बोध्यम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—लोगों के जिस अज्ञानरूपी अन्धकार को चन्द्र और सूय की कान्ति भी दूर नहीं कर सकती, वह अन्धकार इस अल्प उपदेश के निरन्तर सुने जाने पर नष्ट हो जाता है ॥४६॥

विशेषार्थ—उपरोक्त श्लोक में आचार्य ने चातुर्य से अपने नाम सोमप्रभाचार्य को गुप्त रखा है । कवि ग्रन्थ की विशिष्टता सिद्ध करने के लिए कह रहा है—जिस अज्ञानरूपी अन्धकार को चन्द्र और सूर्य दूर नहीं कर सकते उसे दूर करने में यह संक्षिप्त उपदेश सक्षम है ।

संवत्सरद्विपमुनींदुमितस्य मासे मार्गे त्रयोदशमिते दिवसे भृगौ च । स्वल्पा तरीविरचिता सुखबोधिकाख्या श्लेषौघदुस्तरतरंगिणिका सुशास्त्रे ॥ १ ॥

आगरानाम्नि नगरे नंदलालेन धीमता । दानविशालशिष्यानुरोधेन कृपया गुरोः ॥ २ ॥

यह शृंगारवैराग्यतरंगिणी नामक श्लेषयुक्त दुस्तर ग्रन्थ की सुखबोधिका नामक संक्षिप्त टीका आगरा नगर में दानविशाल शिष्य के अनुरोध पर नन्दलाभ[1] ने अपने गुरु की कृपा से निर्मित की। यह टीका विक्रम संवत् १७८०[2] के मार्गशीर्ष मास की शुक्लत्रयोदशी, शुक्रवार को पूर्ण हुई।

॥ युग्मं ॥ सोमप्रभाचार्यकृति सुदुर्गमा विवृएवता स्वल्पधिया मयात्र यत् ॥ न्यूनाधिकोट्टंकन मल्पबुद्धितः कृतं विशोध्यं कृतिभिः कृपालुभिः ॥३॥ श्रीजिनभक्तिसूरिन्द्रे गच्छसाम्राज्यविभ्रति ॥ अशेषमनुजवृन्दनतपादांबुजद्वये ॥ ४ ॥ इति **श्री सोमप्रभाचार्य** विरचितशृंगारवैराग्यतरंगिण्याः सुखबोधिकानाम्नी वृत्तिः संपूर्णा ॥

अयं शृंगारवैराग्यतरंगिणीनामको ग्रंथः वटोदरस्थजगजीवनसुंदरश्रावकेण स्वपरोपकाराय मुम्बापुर्यां निर्णयसागराख्यमुद्रणयन्त्रालये मुखापितः ॥ संवत् १९४२ ॥

॥ श्लोकः ॥

आत्मशिष्योपदेशेन ग्रन्थो मुखापितो मया ।
शृंगारवह्निदग्धानां वैराग्यरससागरः ॥ १ ॥

अर्थ—अत्यन्त कठिन सोमप्रभाचार्य की इस कृति की व्याख्या मैं अपनी अल्प बुद्धि से कर रहा हूँ। मेरी अल्प बुद्धि से यदि इसमें कुछ

टिप्पणी :

1. यहाँ मूलकृति में नन्दलाल छपा हुआ है किन्तु उनके दानविशाल शिष्य के उल्लेख से यह निश्चित होता है कि वे गृहस्थ नहीं अपितु मुनि होने चाहिए। अतः उनका नाम नन्दलाभ है। जिनरत्नकोश में भी कुछ हस्तप्रतों के आधार पर नन्दलाभ नाम का ही उल्लेख हुआ है।
2. प्रस्तुत कृति में संवत्सर का उल्लेख करते हुए 'द्विपमुनिन्दुमितस्य' ऐसा उल्लेख है, जिसका प्रतीकात्मक दृष्टि से अर्थ करने पर इन्दु का एक, मुनि का सात और द्विप (हस्ती) का आठ होने से १७८ होता है। सम्भवतः यहाँ शुद्ध पाठ 'संवद्वियद्विप' होना चाहिए। इस आधार पर टीका का समय १७८० सुनिश्चित होता है। जिनभक्तिसूरि खरतरगच्छ की वृहत्शाखा में हुए हैं और उनके सम्बन्ध में अभिलेख १७८० से १८०४ तक के मिलते हैं। अतः इस टीका का रचनाकाल १७८० माना जाना चाहिए।

न्यूनाधिक हुआ हो तो कृपालु विद्वान इसे शुद्ध कर लें। जिस समय समस्त मानव समाज द्वारा प्रणाम किये गये श्रीजिनभक्तिसूरीन्द्रजी गच्छाधिपति के रूप में विराजित थे, उस समय मुझ (सोमप्रभाचार्य) ने प्रस्तुत शृंगारवैराग्यतरंगिणी की सुखबोधिका नामक व्याख्या पूर्ण की।

यह शृंगारवैराग्यतरंगिणी नामक ग्रंथ बटोदर (बड़ोदरा) के जगजीवन सुन्दर श्रावक ने अपने और दूसरों के उपकार के लिए बम्बई के निर्णयसागर प्रेस में छपवाया।

मैंने अपने शिष्य की प्रेरणा से शृंगार रूपी अग्नि से दग्ध लोगों (की शांति) के लिए इस वैराग्य रूपी रस के सागर—'शृंगारवैराग्यतरंगिणा' नामक ग्रंथ का मुद्रण करवाया। इति।

●

हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन

1. Studies in Jain Philosophy — Dr. Nathmal Tatia Rs. 100.00
2. Jain Temples of Western India — Dr. Harihar Singh Rs. 200.00
3. Jain Epistemology — I. C. Shastri Rs. 150.00
4. Concept of Panchashila in Indian Thought — Dr. Kamala Jain Rs. 50.00
5. Concept of Matter in Jain Philosophy — Dr. J. C. Sikdar Rs. 150.00
6. Jaina Theory of Reality — Dr. J. C. Sikdar Rs. 150.00
7. Jaina Perspective in Philosophy and Religion — Dr. Ramjee Singh Rs. 100.00
8. Aspects of Jainology, Vol.1 to 5 (Complete Set) Rs. 1100.00
9. An Introduction to Jaina Sadhana — Dr. Sagarmal Jain Rs. 40.00
10. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (सात खण्ड) सम्पूर्ण सेट Rs. 560.00
11. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (दो खण्ड) Rs. 340.00
12. जैन प्रतिमा विज्ञान – डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी Rs. 120.00
13. जैन महापुराण – डॉ० कुमुद गिरि Rs. 150.00
14. वज्जालग्ग (हिन्दी अनुवाद सहित) – पं० विश्वनाथ पाठक Rs. 80.00
15. धर्म का मर्म – प्रो० सागरमल जैन Rs. 20.00
16. प्राकृत हिन्दी कोश – सम्पादक डॉ० के० आर० चन्द्र Rs. 120.00
17. स्याद्वाद और सप्तभंगी नय – डॉ० भिखारी राम यादव Rs. 70.00
18. जैन धर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ – डॉ० हीराबाई बोरदिया Rs. 50.00
19. मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म – डॉ० (श्रीमती) राजेश जैन Rs. 160.00
20. जैन कर्म-सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास – डॉ० रवीन्द्रनाथ मिश्र Rs. 100.00
21. महावीर निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श – भगवतीप्रसाद खेतान Rs. 60.00
22. गाथासप्तशती (हिन्दी अनुवाद सहि... ...थ पाठक Rs. 60.00
23. सागर जैन... (प्रो० साग... Rs. 200.00
24. मूलाचार ... जैन Rs. 80.00
25. स्याद्वाद अ... व Rs.70.00
26. जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन – डॉ० शिवप्रसाद Rs. 100.00

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी – ५